अंक : 23

भगवान महावीर का
२५८४ वाँ जयन्ती समारोह

महावीर जयन्ती स्मारिका

1986







मुद्रक :
जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
बोरड़ी का रास्ता, जयपुर-302003
फोन : 63068, 68881

प्रकाशक :
रतनलाल छाबड़ा
मन्त्री :
राजस्थान जैन सभा, जयपुर

राजस्थान जैन सभा, जयपुर

कार्यकारिणी वर्ष – 1986

— पदाधिकारी —

श्री राजकुमार काला	अध्यक्ष
श्री ताराचन्द साह	उपाध्यक्ष
श्री रमेशचन्द गगवाल	उपाध्यक्ष
श्री रतनलाल छाबडा	मन्त्री
श्री प्रकाशचन्द ठोलिया	सयुक्त मन्त्री
श्री महेन्द्रकुमार पाटनी	सयुक्त मन्त्री
श्री कैलाशचन्द साह	कोषाध्यक्ष

— कार्यकारिणी सदस्य —

श्री महावीरकुमार बिन्दायक्या
श्री कैलाशचन्द सोगाणी
श्री शातीकुमार गोधा
श्री अरुण कोडीवाल
श्री डा० लल्लूलाल जैन
श्री ओमप्रकाश बाकलीवाल
श्री सूरजमल सोगाणी
श्री तेजकरण सोगाणी
श्री प्रेमचन्द छाबडा

श्री भागचन्द छाबडा
श्री अरुण काला
श्री राकेशकुमार छाबडा
श्री डा० सुभाष गगवाल
श्री सुबोधचन्द पाण्ड्या
श्री बाबूलाल बेगस्या
श्री कपूरचन्द पाटनी
श्री शम्भूकुमार जैन
श्री रमेशचन्द पापडीवाल

— स्थाई आमन्त्रित सदस्य —

श्री बाबूलाल सेठी
श्री अरुण सोनी
श्री बसन्तकुमार जैन
श्री योगेशकुमार टोडरका
श्री सुधीरकुमार बाकलीवाल

मास्टर नवरत्नमल बडजात्या
श्री कैलाशचन्द गोधा
श्री मणिभद्र पापडीवाल
श्री नगेन्द्रकुमार जैन



भगवान महावीर
(श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी)



राष्ट्रपति सचिवालय
राष्ट्रपति भवन
नई दिल्ली–110004

1 अप्रेल, 1986

सन्देश

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी को सम्बोधित आपका दिनांक 7 मार्च, 1986 का पत्र प्राप्त हुआ। राष्ट्रपति जी को यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर द्वारा भगवान महावीर का 2584वां जयन्ती समारोह इस वर्ष 18 अप्रेल से 22 अप्रेल को मनाया जा रहा है। राष्ट्रपति जी इस अवसर पर समारोह के आयोजकों को अपनी शुभ कामनायें भेजते हैं तथा समारोह की सफलता की कामना करते हैं।

भवदीय,
(के० सूर्यनारायण)



राज भवन, जयपुर

दिनाक अप्रेल ५, १६८६

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि राजस्थान जैन सभा, जयपुर, द्वारा महावीर जयन्ती के अवसर पर एक स्मारिका प्रकाशित की जा रही है। भगवान महावीर ने अपने दिव्य ज्ञान के आलोक से जिन महान सिद्धान्तो का उपदेश दिया उनमे सर्वजीव समभाव, सर्वधर्म समभाव और सर्वजाति समभाव सबसे मुख्य हैं। ये तीन सिद्धान्त ऐसे है जिनसे भारतवर्ष ही नही अपितु सम्पूर्ण विश्व की समस्यायें हल को जा सकती है। भारतीय राष्ट्र के नव निर्माण के लिए हमे भगवान महावीर की सर्वजीव हितकारी शिक्षाओ को स्वय अपने जीवन मे उतार कर अपने वैयक्तिक उदाहरण द्वारा जनमानस मे उनकी प्रतिष्ठा स्थापित करना चाहिए।

मुझे आशा है कि आप की यह स्मारिका अपने उद्देश्य को पूरा करने मे सफल होगी। मेरी शुभकामनाये आपके साथ है।

(वसन्तराव पाटिल)



राजस्थान विधान सभा
जयपुर

दिनांक १४-३-८६

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप आगामी माह भगवान महावीर का पावन जयन्ती समारोह का आयोजन कर रहे हैं और इस अवसर पर एक स्मारिका का प्रकाशन भी कर रहे हैं।

आशा है स्मारिका भगवान महावीर के दिव्य सन्देश को घर घर पहुंचाने में सफल होगी।

(गिरिराज प्रसाद तिवारी)



जयपुर

राजस्थान

सन्देश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भगवान महावीर का २५८४वा पावन जयन्ती समारोह विभिन्न कार्यक्रमो के साथ दिनाक १८ अप्रेल से २२ अप्रेल, १९८६ तक राजस्थान जैन सभा के तत्वावधान मे आयोजित किया जा रहा है।

आशा करता हूँ कि इस अवसर पर भगवान महावीर के जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर उनके सिद्धान्तो के अनुरूप आचरण करने हेतु आम लोगो तक इस स्मारिका द्वारा सदेश पहुँचाया जायगा।

स्मारिका मे प्रकाशित सामग्री से पाठकवृन्द भगवान महावीर के दर्शन से परिचित होकर लाभान्वित होगे।

(हीरालाल देवपुरा)

BJP/Co-1583/86

दि० १४ मार्च, १९८६

सन्देश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भगवान महावीर का २५८४वां पावन जयन्ती समारोह मनाया जा रहा है और इस अवसर पर राजस्थान जैन सभा द्वारा एक आम सभा का आयोजन किया जा रहा है। मैं आपके सभी कार्यक्रमों की सफलता चाहता हूँ।

भगवान महावीर ने जिस अहिंसा का उपदेश दिया था वह वीर का गुण है, कायर का नहीं। आन्तरिक बल से आसुरी शक्तियों पर विजय पाने वाला हमेशा श्रेष्ठ होता है। भगवान महावीर का अपरिग्रह का सिद्धान्त शोषणमुक्त और समतायुक्त समाज की रचना का आधार प्रदान करता है। उनके अलौकिक व्यक्तित्व और असाधारण कृतित्व से प्रेरणा लेकर हम हिंसा और द्वेष से त्रस्त वर्तमान को शांत तथा सुन्दर भविष्य में वदल सकते हैं।

भवदीय

(अटल विहारी वाजपेयी)

महावीर जयन्ती समारोह 1986

विभिन्न कार्यक्रमों के संयोजकगण

भक्ति सन्ध्या	–	श्री जवाहरलाल जैन, श्री मास्टर नवरत्नमल बड़जात्या
कवि सम्मेलन	–	श्री प्रेमचन्द छाबड़ा
विचार गोष्ठी	–	प्रो० नवीनकुमार बज
प्रभात फेरी	–	श्री मणीभद्र पापड़ीवाल, श्री बसंतकुमार
जुलूस	–	श्री उत्तमचन्द वढेर, श्री अरुण सोनी
रक्तदान	–	डॉ इन्दरचन्द सोगानी, डॉ० सुभाष गगवाल श्री सुमतिचन्द कोठ्यारी
सांस्कृतिक सन्ध्या	–	श्री तिलकराज जैन, श्री विनयचंद पापड़ीवाल
पंडाल व्यवस्था	–	श्री रमेशचंद पापड़ीवाल, श्री राकेशकुमार छाबड़ा
प्रचार समिति	–	श्री अरुण सोनी
अर्थ संग्रह	–	श्री ताराचंद साह, श्री शम्भू कुमार जैन



बैठे हुए : (बाये से दाये) सर्व श्री महेन्द्रकुमार पाटनी (सयुक्तमंत्री), कैलाशचन्द साह (कोपाध्यक्ष), रतनलाल छाबड़ा (मन्त्री), रमेशचन्द गगवाल (उपाध्यक्ष) राजकुमार काला (अध्यक्ष), ताराचन्द साह (उपाध्यक्ष), कपूरचन्द पाटनी, प्रकाशचन्द ठोलिया (सयुक्तमन्त्री), बाबूलाल सेठी।

प्रथम पंक्ति में खड़े हुए ,, सर्व श्री राकेश छाबड़ा, मणीभद्र जैन, अरूण सोनी, शातिकुमार गोधा, नवरत्नमल जैन, अरूण कोड़ीवाल

द्वितीय पंक्ति में खड़े हुए : ,, सर्व श्री प्रेमचन्द छाबडा, कैलाशचन्द गोधा, ओमप्रकाश बाकलीवाल, बाबूलाल बेगस्या, लल्लूलाल जैन, कैलाशचन्द सौगाणी,



स्मारिका का यह 23वां अंक पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हर्ष एवं खिन्नता दोनों हैं। हर्ष के सम्बन्ध में तो कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। (जिनवाणी की कुछ भी सेवा बन जाना महान हर्ष का विषय है।) मँहगाई के कारण स्मारिका का कलेवर प्रति वर्ष ही छोटा होता जा रहा है और हमें प्रकाशन योग्य सामग्री भी लेखक महानुभावों को लौटानी पड़ती है तो खिन्नता होती है।

समाज वैसे तो इस महँगाई के युग में भी वडे बड़े पंच कल्याण महोत्सव मना रहा है, विवाह आदि गार्हस्थिक कार्यो पर भी बढ़ चढ़ कर खर्च कर रहा है, पर साहित्य के प्रति हमारा उत्साह मन्द ही है। हम जिनवाणी की पूजा में नित्य अर्घ चढाते है और औपचारिक विनय से ही संतुष्ट हो लेते है। हम यह नही जानते कि औपचारिक विनय का जिनवाणी में अन्तिम स्थान है और मात्र इससे हमें झूँठा सन्तोष तो हो सकता है, कर्म निर्जरा, आत्म विकास की वास्तविक प्रक्रिया आरम्भ नही हो सकती। जिनेन्द्र की वास्तविक विनय यथा शक्ति जीवन में 'जिनेन्द्र' बन कर जीना है, केवल औपचारिक प्रणतियां और जयजयकार करना नहीं। जिनवाणी की वास्तविक विनय जिनवाणी को लिखना, पढ़ना, पढ़ाना, चर्चा करना, वस्तु स्वरूप से परिचय को घना करना है और तदनुसार जीना है।

आखिर समाज में जिनवाणी के प्रति वास्तविक विनय की कमी क्यों है? लगता है इस सम्बन्ध में झीने से मिथ्यात्व है और यदि वे टूट जाये तो आज न तो हमारे पास समय का अभाव है, न लिखने पढ़ने की योग्यता का। हम समझते है जो पूव के आचार्य और विद्वान लिखे गये है वह तो 'जिनवाणी' है और जो नया लिखा जा रहा है वह जिनवाणी नही है। हम यह नहीं समझते कि जैन धर्म परम्परा में जो कुछ वस्तु स्वरूप के अनुरुप, कल्याणकारी लिखा जायेगा वह सब 'जिनवाणी' ही होगा, पठनीय होगा, कर्म निर्जरा का कारण होगा। और फिर, स्मारिका तो प्रात: स्मरणीय प० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ के प्रथम संपादन काल से ही प्रमुखतः पुराने साहित्य के ही दोहन का नवनीत पाठकों के सामने रखती रही है, उस साहित्य का जिसमें आज के सामान्य पढ़े लिखे व्यक्ति का प्रवेश और गति कठिन है। आचार्यो के देशामर्शक कथनों के युगानुरूप विस्तार भी हर युग को देने होगें तभी हमारी अन्तर्वाह्य गाँठे खुल पायेगी। यह कार्य 2000 वर्षो से होता आ रहा है और आगे भी होता रहना चाहिए। स्मारिका प्रकाशन इन अर्थो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है और इसे समुचित उत्साह और ढंग से किया जाना चाहिए, आध मन से, चलते रूप में नही।

प्रति वर्ष की भाँति इस बार सामग्री 6 खण्डों में विभक्त है। गौतम गणधर की स्मृति में मनाये जा रहे 'ज्ञान वर्ष' के उपलक्ष्य मे गुण स्थान, अनंत की गणित, सत् का

लक्षण चर्चित हुए है, तथा दर्शन के अर्थ पर ऊहापोह हुआ है । समण, शमन, समन, श्रवण एक ही शब्द को कितने रूप और अर्थ मे आचार्य समझने की कोशीश करते रहे, यह इस बात का उदाहरण है कि हर शब्द, हर वस्तु अनेकान्तिक है और हम उसके नये नये अर्थों की खोज कर अपनी पकड को विस्तृत और गहरा करें ।

ऐलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज की षष्ठि पूर्ति के उपलक्ष्य मे मनाये जा रहे श्रावकाचार और शाकाहार वर्ष के उपलक्ष्य मे समाज जागृति के मत्र, युवको की जीवतता, Egg Good Source ot Energy A Myth, Takıng food at nıght आदि लेख सग्रहित हुए हैं ।

Only Connect मे स्मारिका का अधिक विश्वास है । दिगम्बर-श्वेताम्बर को तो हम जोडकर चलते ही हैं । भारतीय अभारतीय चिन्तको मे महावीर की जैसी जो समानता हो हम उभारना चाहते हैं । इस क्रम मे कबीर की अहिंसा, नियमसार मे कथित नियम-स्वरूप का वैदिक धर्म के क्षेत्र पर प्रभाव तथा 'भागवत-शास्त्र' शब्द का वैदिक परम्परा से ग्रहण आदि परस्पर ग्रहण और मेल के पक्ष प्रस्तुत हुए हैं । यह 'एकता' अभारतीय अर्वाचीन) चिन्तको से महावीर की / महावीर के सिद्धान्तो की भी स्मारिका प्रकाश मे लाना चाहती है । हम जितने सार्वलौकिक और सार्वकालिक हो सकें उतना ही हमारा कल्याण है ।

स्थानाभाव से इस अक मे सग्रहित अन्य सामग्री की हम चर्चा नही कर पायेंगे । हमे विश्वास है सग्रहित प्रत्येक लेख और कविता पाठको के मन को रमायेगी, उदबुद्ध करेगी ।

आज 'आतकवाद' हमारे मानस को विशेष झकझोर रहा है । काव्य खण्ड मे उसके विरूद्ध आवाज उठना स्वाभाविक था । क्या उपचार है उसका ? 'पुलिस एव सेना के प्रयोग' मे महावीर का विश्वास नही है । बहुत ही आवश्यक हो तो महावीर उसे इन्कार भी नही करते । (शान्तिनाथ, नेमीनाथ आदि स्वय तीर्थ करो के युद्ध मे जाने के पुराणो मे उदाहरण है ।) पर महावीर कहेंगे कि अपरिग्रह, अहिंसा, परस्पर मैत्री आदि जीवन के शुभ पक्षो की मानव मानव के बीच, जीव जीव के बीच स्थापना हुए बिना हिंसा की जडें समाज से समाप्त नही हो सकती । 'जिन वचन' मानव के सभी रोगो का इलाज है, आतकवाद का भी ।

अन्त मे मैं सभा के अधिकारियो के प्रति आभारी हू कि उन्होने सम्पादन के गुरुतर भार के मुझे योग्य समझा । मैं श्री रॉवकाजी, श्री पापडीवालजी, श्री कासलीवाल जी आदि अपने सहयोगी बन्धुओ तथा जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के मालिक श्री कैलाशजी साह का आभारी हू जिनके अथक श्रम के बिना स्मारिका प्रकाशन सभव नही था ।

स्मारिका की सारी सामग्री लेखको का निर्व्याज श्रम है । उनके प्रति आभार व्यक्त करने हेतु तो हमारे पास शब्द ही नही है । जिनकी रचनायें हमे लौटानी पड रही है, वे हमारी विवशता देखते हुए हमे क्षमा करें ।

— बिल्टीवाला

अध्यक्षीय

भगवान महावीर की 2584वीं जयन्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में उत्साह और उमंग से मनाई जा रही है । अपने माता पिता के साये में वर्धमान ने परम्पराओं को तोड कर स्वयं ने अपना मार्ग प्रशस्त किया, वे सूक्ष्मदर्शी तत्वशिल्पी थे । अपनी साधना के माध्यम से महावीर स्वामी ने प्राणी मात्र की रक्षा का मार्ग जन जन को दिखाया । भगवान महावीर निर्ग्रन्थ बने, बाह्य एवं अन्दर की ग्रन्थियों का खोला तथा अरिग्रह का मार्ग अपने जीवन में उतारा । उनका सम्पूर्ण जीवन अहिसा एव अनेकान्त का दर्शन बन गया । भीषण परिस्थितियों में भी वे विचलित नही हुये ।

महावीर का काल आज की परिस्थितियों से आंका जा सकता है । आज देश और विदेश में आंतकवादी प्रवृत्तियों ने मानव को झकझोर दिया है । चलते फिरते मानव आज डरा हुआ है, वह नहीं जानता सुवह घर से निकलने के पश्चात सायंकाल अपने परिजन तक पहुचेगा या नहीं । पजाब में हिसा का ताण्डव गत वर्पो मे जो हुआ इसकी परिकल्पना महावीर के देश में अहिसा वादियों को कचोट रही है । हमारा देश एक ओर 21सवी सदी में प्रवेश की तैयारी में जुटा हुआ है दूसरी ओर यह ड़र लगा हुआ है क्या आज का व्यक्ति 21वीं सदी देख भी पायेगा । पडौसी राप्ट्र दूसरे शक्ति शालीशाली राप्ट्रो की सहायता से युद्ध के लिये हथियार जुटा रहे है, शक्ति को आंकने के लिये भीपण अणु और परमाणु वमों की तैयारी हो रही है । आज तक तैयार आधुनिक हथियार सारे विश्व को 27 बार नष्ट-भ्रष्ट करने की शक्ति रखते है । क्या ऐसेमें ही विश्व शान्ति हो सकेगी । करोड़ों मूक पशु पक्षियों का वलिदान प्रतिदिन हो रहा है और आहिंसा के पुजारी चुप वैठे हैं ।

यह देश ऋषि और मनीपियों का देश है, किन्तु आज कोई अपनी आत्मशक्ति से हिसा को नही रोक पारहा है । ऐसे मे आज फिर एक और महावोर के जन्म की आवश्यकता है ।

आइये आज इस पावन जन्म जयन्ति के अवसर पर सत्य, अहिसा, अचौर्य अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य जैसे अणुव्रत ही अपनाले । विश्व में सह अस्तित्व का पाठ फिर से प्रारम्भ कर मानव मूल्यो को पुनः स्थापित करें । यही सार महावीर जयन्ती का हो सकता है ।

राजस्थान जैन सभा गत वर्षो से अनेक जनोपयोगी कार्य अपने हाथो मे ले रही है। इस वर्ष भी उत्साही साथियो ने रक्तदान का कार्य अपने हाथ मे लिया है। हमारी भावना है जयपुर नगर मे कोई भी व्यक्ति रक्त की कमी से अपनी जीवन लीला समाप्त न करे। इस अनूठे प्रयास मे सम्पूर्ण समाज के सहयोग की आवश्यकता है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि जैन समाज अपनी शक्तियो का वास्तविक उपयोग नही करता है। यदि वह अपनी शक्तियो के उपयोग की विपरीत दिशा बदल कर ठीक दिशा की ओर मुड जावे तो न केवल हमारी अनेक समस्याये सुलझ जावे। वस हम भारतीय राष्ट्र मे ही क्या अपितु समूचे विश्व मे अपने लिये गौरव मय स्थान बना सकते है। यह तभी हो सकता है जब हम भिन्नता मे भी एकता के महत्व को हृदयगम करें।

यह प्रसन्नता की बात है कि साहित्य प्रचार की दृष्टि से अनेक जैन और जैनेत्तर विद्वानो ने जैन साहित्य से सम्बन्धित शोध निबन्ध स्मारिका हेतु लिखे है। इनका सपादन इसवर्ष भी इस स्मारिका मे प्रधान सम्पादक श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला ने किया है। उनके कार्य की सराहना स्मारिका मे सकलित सामग्री स्वय है। इसी वर्ष राजस्थान जैन सभा ने श्रीप्रवीणचन्द्र छाबडा द्वारा लिखित पुस्तक 'चान्दन के बाबा' का प्रकाशन किया है। उक्त पुस्तक का विमोचन भारत के राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैलसिहजी ने किया है। मै श्री छाबडाजी का आभारी हू जिन्होने यह अनुपम कृति प्रकाशन के लिये हमे दी है।

मै श्री रमेश गगवाल जिन्होने अपने सभी साथियो के साथ विज्ञापन सामग्री एकत्रित कर स्मारिका के प्रकाशन मे योग दिया है उनका भी आभारी हू।

अन्त मे मै राजस्थान जैन सभा की कार्य समिति के सदस्यो एव सभा के मत्री श्री रतनलाल छाबडा का भी आभारी हू जिन्होने सभा के कार्यो मे सहयोग देकर सभा की गतिविधिया बढाई है।

राज्य सरकार का भी सहयोग हमे सदैव मिलता रहता है मै आभारी हू। यह 23वा पुष्प पाठको के हाथो मे प्रस्तुत है, कमियो की क्षमा चाहता हू।

—राजकुमार काला

आभार प्रदर्शन

राजस्थान जैन सभा द्वारा प्रकाशित महावीर जयन्ती के इस 23वें अंक के प्रकाशन में प्रबन्ध संपादक के लिये मुझे भरपूर स्नेह सहयोग और मार्गदर्शन मिला मैं उन सभी महानुभाओं के प्रति अत्यन्त आभारी हूं। यह स्मारिका आज एक सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में मानी जाने लगी है। इसका श्रेय इसके प्रणेता समाज सुधारक, चिन्तक, एवं निर्भिक विचारक स्व० पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा, पूर्व सम्पादकों का स्मारिका के प्रकाशन के लिये अथक परिश्रम एवं लगन का परिणाम है। इस वर्ष यह अंक सरल स्वभावी चिन्तनशील आध्यात्मिक विचारक श्री ज्ञानचन्द्रजी साहिब बिल्टीवाला डा० प्रेमचन्द रॉवका, श्री देवेन्द्रमोहन कासलीवाल तथा श्री विनयचन्द पापडीवाल के विशेष परिश्रम, त्याग और लगन का प्रतीक है।

इसकी गरिमा बनाये रखने के लिये इसमें चुने हुए मुख्य मुख्य लेख ही मुद्रित किये गये हैं। जिन लेखक विभूतियों ने विशेष चिन्तन से लिखकर लेख प्रकाशन के लिये भिजवाये हैं, धन्यवाद के पात्र हैं, यह आप सभी जिज्ञासु व जागरूक पाठकों के लिये इस अंक में प्रस्तुत है।

भगवान महावीर के सिद्धान्त जो विश्व में सुख शान्ति और अमन के लिये पथ-प्रदर्शक और वैज्ञानिक है इनका प्रचार प्रसार आज बहुत आवश्यक है, विशेष कर जबकि विश्व के सभी देशों द्वारा वर्ष 1986 विश्व शान्ति वर्ष के रूप में मनाया जा रहा है।

ऐसे मानव हितकारी संन्देशों के संकलन को प्रकाशित करने के लिये सहयोग स्वरूप जिन विज्ञापनदाताओं ने अपने प्रतिष्ठानो के विज्ञापन देकर हमारा उत्साह बढाया है उनके प्रति मैं व्यक्तिगत एवं सभा की ओर अत्यन्त आभारी हूं।

सभा के अध्यक्ष श्री राजकुमारजी काला एव मंत्री श्री रतनलालजी छाबड़ा के मार्गदर्शन एवं सहयोग के प्रति भी अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

मै अपने विज्ञापन समिति के सदस्यों के प्रति भी अत्यन्त आभारी हूं जिन्होने अथक प्रयास कर मुझे इस कार्य को सम्पन्न कराने में सहयोग दिया है।

इस अवसर पर मै सर्व श्री मोहनलाल जैन, श्री अजय कुमार, श्री प्रेमचन्द छाबडा, श्री अरुणकुमार सोनी, श्री अमरचन्द काला, श्री टी सी जैन, श्री विजयकुमारजी अजमेरा, श्री मणीभद्र पापडीवाल, श्री नरेशकुमार सेठी श्री प्रभाकर देव डडिया, श्री वीरेन्द्रकुमार वज, श्री रमेशचन्द पापडीवाल, श्री वी के कासलीवाल, श्री बाबूलाल बेगस्या व श्री ज्ञानचन्द झाझरी आदि सभी साथियो का तथा जिनके नाम का यहा उल्लेख नही है के प्रति भी अत्यन्त आभारी हू ।

जैना प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के सचालक श्री कैलाशचन्दजी साह ने विशेष परिश्रम कर प्रेस के सभी कार्यकर्ताओ के सहयोग से अल्प समय मे स्मारिका मुद्रित की, का विशेष रूप से आभारी हू ।

इस बृहत् स्मारिका के कार्य को सम्पादन कराने मे कही कोई भूल रही हो तो कृपया उदार हृदय मे क्षमा करने की कृपा करे ।

अन्त मे सभा के इस पुनीत काय से लिये भविष्य मे भी आपके पूर्ण सहयोग की कामना करते हुये स्मारिका मे सलग्न प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष सभी महानुभाओ का हृदय से पुन आभार प्रकट करता हू ।

स आदर,

— रमेशचन्द गगवाल

प्रथम खण्ड

महावीर : जीवन, सिद्धान्त एवं परम्परा

त्रिशला कुमार

रचि—देवेन्द्र कुमार पाठक 'अचल'

सतत साध सम्यक समग्र स्वर गाते सुर शुचि गाथा
पापों का प्रक्षालन कर पद झुके अर्हनिश माथा
कीर्ति कौमदी कलित कला रस पा कलेन्द्र हर्षाते
निर्विकार त्रिशला कुमार छवि, लख निज भाग्य सिहाते ।

पाता है जिनसे जड़ चेतन सहज सौम्य अपनापन
रक्षित, वक्षित, दक्षित जिन सन्निधि में प्रतिक्षण जीवन
मधुकर सम मंडराते जिनके चहुंदिशि भाव मनोरम
ले म्लान मुख छिपे खड़े शिर नतकर सारे शम दम ।

भिन्न भिन्न को कह अभिन्न गूंथी जिनने निज माला
घोर अमा ने भी जिनसे पाया शाश्वत उजियाला
सभी एक हैं, एक धर्म है एक अन्न व पानी
एक प्राण ले अस्थि चर्म में, हुए एक से प्राणी ।

सबके पदतल वही धरा है शिर गगनाच्छित छाया
कसे हुये हैं एक मूठी में नित्य एक ही माया
दे सत्वर सन्देश. विश्व को अपराजित-वर-स्वामी
बना गए चिन्तन धारा दे हम सबको अनुगामी ।।

कलित-साहित्य-सदन
ढाना (सागर) म प्र.

महावीर पूजा : पूजक और पूज्य

ले विद्यावारिधि डा महेन्द्र सागर प्रचण्डिया,
साहित्यालंकार एम ए, पी-एच डी, डी लिट

कट दुनिया भर मे भारत और यूनान प्राचीनतम धार्मिक केन्द्र माने जाते हैं। पश्चिमी और पूर्वी धार्मिक मान्यताए क्रमश इन्ही के द्वारा अनुप्राणित रही हैं। भारतीय धर्म साधना मे जैन धर्म का स्थान बडे महत्व का माना जाता है। इसमे आत्मा और आध्यात्मिकता की प्रधानता तो है ही साथ ही जागतिक जीवनचर्या की उपेक्षा नही की गई है। आत्म-विकास का मूलाधार जागतिक जीवन चर्या ही है।

जैन धर्म किसी व्यक्ति/शक्ति की उपज नही है। यह कृत नही वस्तुत प्राकृत है। इसके अनुसार सृष्टि भी आदि है/अनादि है। गुणो के समुह को द्रव्य कहा गया है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षट् द्रव्यों का समीकरण सृष्टि कहलाता है। द्रव्य के गुण सदा शाश्वत हैं, अविनाशी हैं और उनकी प्रतिक्षण परिवर्तनशील पर्यायें सासारिक चक्रमण मे परम सहायक की भूमिका का निर्वाह करती हैं। यहा प्रत्येक प्राणी अपने कर्म का स्वय ही कर्त्ता होता है और कृत कर्म-फल का स्वय ही भोक्ता भी।

जैन दर्शन मे किसी व्यक्ति-सत्ता की उपासना का विधान नही है। यहा गुणो की वन्दना की जाती है। इसीलिए प्रत्येक प्राणी किसी सत्ता विशेष के अधीन नही होता। वह सर्वदा स्वाधीन है। आत्मिक गुण/धर्म अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत वीर्य और अनत सुख अनत चतुष्टय कहलाते हैं। प्रत्येक आत्मा मे ये आत्मिक स्वभाव सर्वदा विद्यमान रहते हैं। इन पर मिथ्या चरण का आवरण पडे रहने से इन्हे तप और सयम साधना द्वारा जगाया जाता है। तपश्चरण के व्याज से साधक कर्म निर्जरा करता है सकाम निर्जरा कर अपने आत्मिक अनत चतुष्टय को जगाता है। इन आत्मिक गुणो की वदना ही वस्तुत पूजा कहलाती है।

इस प्रकार जैन पूजा मे पुजारी किसी प्रभु सत्ता से अपने मनोरथ-मनोनिया सम्पन्न करने की याचना नही करता, अपितु जिन आत्माओ मे ये गुण जाग चुके हैं उन्हे स्मरण कर अपनी आत्मा मे जगाने की मगल कामना/भावना करता है। विचार करें, जैन-दर्शन मे पूज्य प्रभु अपने जागतिक राग विराग मेट कर पूर्णत वीतराग हो जाता है। जब उसके सारे राग बीत ही चुके तब पूजक की एषणाए पूरी अथवा अधूरी वह किस प्रकार सम्पन्न कर सकता है। इस प्रकार जैन धर्म मे पूज्य से पूजा द्वारा कोई विनिमय नही होता।

प्राण जब पर्याय ग्रहण करता है तब वह प्राणी बन जाता है। प्राणी वसु कर्मविपाक से प्रबधित रहता है। परिग्रह मेटकर वह अपनी चारित्रिक

साधना से अपना अंतरंग पूर्णतः रिक्त करता है। फलस्वरूप कर्म विरत होने पर अन्तरंग की निर्मलता आत्मिक गुणों को जागृत करती है। इस परि-णति की पराकाष्ठा आवागमन के चक्रमण से पूर्णत. मुक्त करने मे मुखर हो उठती है।

महावीर ने इसी प्रकार सिद्धात्माओं के आत्मिक गुणों की वंदना की और आत्मिक गुणों की पूजा कर अपने प्रच्छन्न गुणो को जगाने का भगीरथ प्रयास किया और अततः जब वे जग गये तो पूजक महावीर वस्तुतः पूज्य बन गए, सम्पूज्य हो गए।

आज तीर्थंकर महावीर की जयन्ती मनाने के लिए देशीय अन्तर्देशीय आयोजन किए जाते है। जय जयकार लगाए जाते है। अपने पुरुषार्थ की अवहेलना कर पूजक अपने पूज्य की पूजा करता है और याचना करता है जागतिक नाना मनोरथो के पूर्ण होने की, यह परिपाटी आज जैन धर्म के अनुयायियो मे घर कर गई है तथापि है जैन धर्म के विरूद्ध। इसीलिए मिथ्या है। मिथ्यादर्शी कभी समदर्शी नही हो सकता। ममत्व मिटे तभी सम्यक्त्व जाग्रत होता है।

नय के अर्थ है ले जानेवाला। यहां नय दो प्रकार से कहे गए है—निश्चय नय और व्यवहार नय। व्यवहार नय का पालन करने के लिए साधक/श्रावक को सम्यक् श्रद्धान स्थिर करने की परम आवश्यकता है। मिथ्या श्रद्धान स्थिर कर कोई साधक/पूजक चाहे कितनी पूजाए/वदनाएं सम्पन्न करे परिणाम मे कभी पूज्य नही हो सकता। इसलिए तीर्थंकर महावीर व्यवहार धर्मी के लिए भी सम्यक् श्रद्धान के विधान पर बल देते है। सच्चे देव अर्थात् वीतरागी सिद्धात्मा, सच्चे शास्त्र अर्थात् वीतराग वाणी और सच्चे गुरु अर्थात् सुधी मुनिजन में मनसा, वाचा और कर्मणा आस्था/विश्वास रखना ही सम्यक् श्रद्धान कहलाता है।

एक जीवत घटना का स्मरण हुआ है। एक कार्यक्रम मे एक सज्जन से भेट हो गई। पारस्परिक परिचय हो जाने पर बोले आप तो बड़े विद्वान है। मै तो साधारण आदमी हूं। व्यवहार धर्म पाल लेता हूं। मैंने कहा क्या व्यवहार पालते है आप। यही मदिर चला जाता हू। आठें–चौदश या पर्वो पर रात्रि भोजन त्याग देता हूं। इतना ही बन पाता है। व्यवहार धर्म है न। कभी–कभी तीर्थयात्रा भी कर लेता हूं। अभी महावीर जी गया था। एक छत्र चढाया था वहाँ। और भी सामाजिक कामो मे भाग लेता रहता हूं। यही कुछ कर पाता हूं साहब। मैने कहा महावीर जी गए थे आप। छत्र चढ़ाया था। कामना क्या की थी? इस पर वे मुस्कराए और बोले कौन सी कामना बताऊं। एक हो तो व्यक्त करू। सारा जीवन कामनाओं से भरा पड़ा है। जो कामनाए भगवान की कृपा से पूरी हो जावे वही ठीक है। एक कामना की थी। एक मकान का मुकदमा था। वह मेरे पक्ष मे हो गया। मुकदमा जीत गया तो बोला हुआ छत्र चढ़ाना था। वही चढाकर आया हूं। यह सुनकर मैं दग रह गया। एक अखिल भारतीय जैन समाजी के श्री मुख मे यह सुनकर मुझे भारी आश्चर्य हुआ। यह कैसे जैन है जो मनौती मनाते है? यह कैसे जैन है जो वीतराग से निजी जागतिक कार्य सम्पादन की कामना करते है। संस्तुति करते-कराते हैं। कैसा श्रद्धान है? यह श्रद्धान तो व्यक्ति को पराधीनता की ओर ले जाता है। जैन धर्म का सिद्धान्त है पराधीन से स्वाधीन बनो। जिसने अपने राग मेट दिये हो, जो वीतराग होगया हो. विचार करें वह आपकी तमन्नाएं कैसे पूरी कर सकता है? आप उसकी उपासना करे तो वह उपासना आपकी होगी। आप उसकी अवहेलना करें तो वह अवहे-लना आप की होगी। उस वीतराग को आपकी उपासना और अवहेलना से कोई सरोकार नही। वह आवागमन के चक्रमण से मुक्त हो चुका है और आप है जो उससे पुनः नाता जोडना चाहते

है। यह निरी मखौल है। इसमे बडी मखौल और क्या होगी ? मिथ्या श्रद्धानी की सारी पूजाए और अर्चनाए खण्डित हो जाती है। व्यवहार धर्म पालने के लिए भी श्रद्धान सम्यक् ही चाहिए। सम्यक् दृष्टि कभी पराधीन नही होता। उसकी चर्या श्रम-साधना से ओत-प्रोत होती है।

महावीर की पूजा, महावीर का पूजक और महावीर का पूज्य सर्वथा सार्थक सिद्ध हुआ है। उसमे राग का अन्त, विराग का विसर्जन और वीतराग का उदय होता है। और इस प्रकार वह अतत सिद्ध हो जाता है। महावीर के सच्चे अनुयायी को आज नही तो कल अततोगत्वा एक दिन अवश्य अपनी वीतरागता को जागृत करना है, मृत को मेट कर अमृत बनना है। यही जीवन की सार्थकता है।



निदेशक
जैन शोध अकादमी
394, सर्वोदय नगर, आगरा रोड
अलीगढ–202 001

ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिणसासण ॥

(तुम) स्वय से (स्वय के लिए) जो कुछ चाहते हो और (तुम) स्वय से (स्वय के लिए) जो कुछ नहीं चाहते हो, (क्रमश) उसको (तुम) दूसरे के लिए चाहो और (न चाहो), इतना ही जिन-शासन (है)।

समणसुत्त–चयनिका

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा, पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया, खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

इन्द्रिय-भोग निश्चय ही अनर्थों की खान (होते है), क्षण भर के लिए सुखमय (तथा) बहुत समय के लिए दु खमय (होते हैं), अति दु खमय (तथा) अल्प सुखमय (होते है), (वे) ससार-(सुख) और मोक्ष-(सुख) (दोनो) के विरोधी बने हुए (हैं)।

समणसुत्त–चयनिका

जह कच्छुल्लो कच्छु कडयमाणो दुह मुणइ सुक्ख ।
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामदुह सुह बिति ॥

जैसे खाज–रोगवाला खाज को खुजाता हुआ दु ख को सुख मानता है, वैसे ही मोह-(रोग) से पीडित मनुष्य इच्छा (से उत्पन्न) दु ख को सुख कहते हैं।

समणसुत्त–चयनिका

समरणं भयवं महावीरे

☐ डा० ज्योतिप्रसाद जैन 'विद्यावारिधि'

जैन परम्परा का एक अतिप्राचीन एवं चिर-कालव्यापी नाम 'श्रमण परम्परा' रहा है। 'श्रमण' शब्द का अर्थबोध, उसकी सार्थकता एव प्रासंगिकता की प्रतीति के लिए परम्परा के आदिकाल तक जाना होगा।

प्रथम तीर्थङ्कर आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव वर्तमान कल्पकाल मे कर्मयुग एवं मानवी सभ्यता के आद्य पुरस्कर्ता थे तो मानव धर्म के भी आद्य प्रवर्तक थे। वह 'वस्तु स्वभाव' को धर्म कहते थे, जिस वस्तु का जो परानपेक्ष निजी स्वभाव है, वही उक्त वस्तु का धर्म है। अतएव आत्मा के जो परानपेक्ष निजी गुण या गुण समूह है, वही आत्म-धर्म या मानव धर्म है। आत्मा उर्ध्वस्वभावी है, स्वरूप मे प्रतिष्ठित रहना उसका स्वभाव है, किन्तु अनेक अंतरग एवं बहिरंग कारणो के वशीभूत होकर उसका स्वभाव दबा-ढका पड़ा रहता है, वह वैभाविक परिणमन करता रहता है और फलस्वरूप जन्म-मरण रूप संसार में नाना प्रकार के दुख भोगता रहता है। धर्म का लक्ष्य उक्त दुख-रूप संसरण से आत्मा को मुक्त करके उसे अपने ज्ञान-दर्शनमयी सच्चिदानन्दघनस्वरूपी शुद्ध चैतन्य स्वभाव मे प्रतिष्ठित करना है। उस अक्षय अवि-नाशी-शाश्वत मोक्ष अवस्था की प्राप्ति निवृत्तिमार्गी अध्यात्मवादी अहिंसामूलक समत्व प्रधान तप-त्याग-संयम की साधना द्वारा ही सम्भव एव शक्य है। अतः व्यवहारतः वही मार्ग अवलम्बनीय एव आचरणीय है, और वही सच्चा मोक्षमार्ग, धर्म-पथ अथवा धर्म है।

ऋषभ-प्रणीत यही धर्म-परम्परा प्रारम्भ में शायद मात्र धर्म, आत्मधर्म या शायद ऋषभ-धर्म भी कहलाई। कालान्तर में आर्हत धर्म, मुनिधर्म, व्रात्य परम्परा, निर्ग्रन्थमार्ग, श्रमण परम्परा आदि नामो मे प्रसिद्ध हुई। वर्तमान जैन परम्परा उसी प्राचीन श्रमण परम्परा का प्रतिनिधित्व करती है।

विशेषकर जब से ऐहिलौकिक सुख एव अभ्युदय की प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञादि अनुष्ठानो मे प्रवृत्त प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा पर ब्राह्मण वर्ण का वर्चस्व, नेतृत्व एव प्राधान्य हुआ, तो वह आध्यात्म-वादी निवृत्तिमार्गी आर्हत या मुनि परम्परा श्रमण परम्परा के नाम से विख्यात हुई। वस्तुतः श्रमण-ब्राह्मण द्वन्द्व किसी समय इतना मुखर हो उठा कि सर्प-नकुल, शेर-बकरी, मार्जार-मूषक आदि जाति-विरोधी युग्मो की भाति श्रमण-ब्राह्मण युग्म भी दृष्टान्त रूप मे प्रस्तुत किया जाने लगा, यथा पाणिनीय व्याकरण के सूत्रो में। बौद्ध संयुक्त-निकाय का भी एक सूत्र 'समण-ब्राह्मण' है। प्राचीन जैन साहित्य में तो श्रमण शब्द बहु प्रचलित रहा है। स्वयं भगवान महावीर के लिये 'समण भयवं महावीरे' पद आगमो मे प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः, इस श्रमण परम्परा के प्रवर्तक, पोषक साधक एव प्रचारक ऋषभादि-महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर

श्रमणोनिम कहलाए उनके अनुयायी तथा मोक्षमार्ग के एकनिष्ठ साधक गृहत्यागी निरारंभी निष्परिग्रही-ज्ञानध्यानतपलीन साधु श्रमण और साध्वियां श्रमणियां कहलाईं, तथा उनके मार्ग में आस्था रखने वाले भक्त गृहस्थ पुरुष श्रमणोपासक और गृहस्थ स्त्रियां श्रमणोपासिका या श्रमण-श्राविका कहलाईं।

परम्परा में इतना व्यापक एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने से प्राचीन जैन साहित्य में 'श्रमण' शब्द की व्याख्या और विवेचन भी प्रभूत हुआ है। मूल शब्द अर्धमागधी प्राकृत का समण' है, जिसकी संस्कृत छाया 'श्रमण' हुई—संस्कृत साहित्य में उसी का बहुत प्रयोग हुआ, किन्तु प्राचीनाचार्यों ने समण' शब्द के तीन अन्य संस्कृत रूप शमन, समन एवं समण भी निर्वचन किये हैं और उनकी सार्थकता भी सिद्ध की है।

(1) शमन—उपशम अर्थ वाली 'शम्' धातु से इसकी व्युत्पत्ति करते हुए 'शाम्यति क्रोधादि कषायान् इति शमन' अर्थात् जो क्रोधादि कषायों का शमन या उपशमन करता है वह 'शमन' है, इस नाम रूप की सिद्धि की है। अन्यत्र भी कहा है कि 'कर्म वैषम्य की इच्छा न करने वाला, प्राणीमात्र की आत्माओं को अपनी आत्मा के तुल्य समझने वाला और क्रोधादि कषायों का शमन करने वाला शमी महामुनि ही मोक्ष प्राप्त करता है।' 'उवसम सारं खु सामण्णं'—श्रामण्य या श्रमणत्व का सार ही कषायों का उपशम है।

(2) समन या समना—'सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण ताप रहितेन च वर्तते इति समना' अर्थात् जिसका मन निदान आदि शल्यों के ताप से रहित होकर स्वस्थ रहता है, वह समना है। तथा 'समान स्वजन-परजनादिषु तुल्यं मनो यस्य स समना' अर्थात् स्वजन एवं परजन में जिसका मन समान रहता है, जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान में समचित रहता है, न किसी से राग करता है न द्वेष, ऐसा समान मन वाला मध्यस्थभावी व्यक्ति 'समन' कहलाता है।

(3) समण—समण का भी प्रायः यही अर्थ किया है—'सम इति समतया शत्रुमित्रादिषु अणीत प्रवर्तत इति समणः। सर्वजीवेषु तुल्यं वर्तते इति समण' तथा

'जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ, सममणइ तेण सो समणो॥'

यदि कुछ अन्तर है तो मात्र इतना ही कि अन्तर करें यदि 'समन' में मन की स्वस्थता पर अधिक बल है, तो 'समण' में अन्य प्राणियों के प्रति अहिंसक वृत्ति एवं समताभाव रखने में अधिक बल है।

(4) श्रमण—'श्रमु तपसि खेदे च' अर्थवाली 'श्रमु' धातु से व्युत्पत्ति करने पर 'श्राम्यतीति श्रमणः श्राम्यति श्रममानयति पंचेन्द्रियाणि मनश्चेति श्रमणः। श्राम्यति संसार विषयविन्नो भवति तपस्यतीति स श्रमण।' अर्थात् जो श्रम करता है, पांच इन्द्रियों एवं मन को प्रयत्नपूर्वक नियन्त्रण में रखता है, वशीभूत करता है और जो सांसारिक विषयों से खिन्न एवं विरक्त होकर तपश्चरण करता है, वह श्रमण है।

भावार्थ यह है कि जो भव्यात्मा काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों का उपशमन करने में प्रयत्नवान रहता है, जो समस्त अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में समत्व (माध्यस्थ) भाव बनाये रखता है, जो प्राणीमात्र की आत्मा को अपनी आत्मा जैसी ही प्रतीति करके सबके प्रति अहिंसक बना रहता है और समताभाव रखता है और जो संसार देह-भोगों से विरक्त होकर स्वेच्छा से स्व-पुरुषार्थ द्वारा सम्यक् तपश्चरणादि का खेद सहर्ष स्वीकार करता है, वही सच्चा समण, समन, शमन या श्रमण है।

एक पुरातनाचार्य ने श्रमण के लिये बारह उपमाएं प्रयुक्त करके उसके स्वरूप को विशद किया है—

उरग-गिरि-जलरण-सागर-णहतल-तरुगण समो य
जो होइ।
भमर-मिय-धरणि-जलरुह-रवि-पवरण समो य
सो समरणो ।।

इस गाथा मे श्रमरण (जैन साधु) को उरग या सर्प के ममान बताया जो अपने निवासादि के लिए न मकान या उपाश्रय आदि स्वय बनाता है, न दूसरों से बनवाता है, न बनाने की प्रेरणा देता है, किसी के परित्यक्त स्थान मे उसकी अनुमतिपूर्वक ही ठहरता है और एक स्थान में अधिक दिन नही ठहरता। वह परिषहों एवं उपसर्गो को समतापूर्वक सहन करता हुआ गिरि या पर्वत की भाति अकम्पित रहता है। जैसे अग्नि (ज्वलन) ईधन से कभी तृप्त नही होती, उसी प्रकार श्रमरण ज्ञानार्जन से तृप्त नही होता—निरन्तर ज्ञानोपयोग मे लीन रहता है और अपने तपोतेज से दीप्त रहता है। वह सागर की भाति गम्भीर रहता है, और जिनदेव द्वारा प्रतिपादित मर्यादाओं का उल्लंघन नही करता। वह नभस्तल (आकाश) जैसा निरावलम्वी होता है, गृहस्थो के सहारे या सहायता की कतई अपेक्षा नही रखता। जिस प्रकार वृक्ष शीत-तापादि बाधाओं को समभाव से सहन करते है, फल आने पर और अधिक नम्र हो जाते है, पत्थर मारने वालो को भी मीठे फल ही देते है, इसी प्रकार सच्चा श्रमण भी सहनशील, ज्ञान-तपादि के अहकार से शून्य, निन्दा-स्तुति मे समभावी, द्वेषी के प्रति भी परोपकाररत रहता है। वह भ्रमर की भाति गृहस्थजनों को कष्ट पहुंचाये विना यथोचित आहार जहां अनायास मिल गया तो ले लेता है और निरासक्त भाव से भिक्षोपरान्त गृहस्थ के स्थान से चला जाता है। जैसे मृग सिह से भयभीत रहता है, उसी प्रकार श्रमरण पापभीरु होता—पापकार्यो से डरकर सदैव उनसे दूर रहता है। वह पृथ्वी के समान शत्रु-मित्र मे समभावी, सहिष्णु और सहनशील होता है। वह संसार तथा सासारिक कार्यो से जल-कमलवत अलिप्त रहता है। वह सूर्य की भांति दूसरो के अज्ञानाधकार को दूर करने के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह पवन की भाति अप्रतिवद्ध विहारी होता है—किसी के कहने या प्रभाव से नही, स्वेच्छा से विहार करता है। इनके अतिरिक्त, जैन साधु या श्रमरण के लिए प्रव्रजित परिव्राजक, अनगार, निर्ग्रन्थ, मुनि, भिक्षु योगी, तपस्वी, गुप्त, सयत, क्षान्त, दान्त, महाव्रती, तीर्ण, त्राता आदि अन्य अनेक सार्थक नाम या विशेषरण भी प्रयुक्त हुए है।

श्रमरण उपरोक्त समस्त गुणो का पुंज होता है। वे गुरण उसके परिचायक है और उसके व्यक्तित्व, जीवनचर्या मे रूपायित होते है। द्रव्यत भावत सच्चा श्रमरण ही सच्चा मुमुक्षु रत्नत्रयरूप मोक्ष-मार्ग का साधक और अन्ततः मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी होता है। और, अन्तिम तीर्थकर श्रमण भगवान महावीर (ईसापूर्व 599–527) इस श्रामण्य, श्रमरणत्व या श्रमरणधर्म के सर्वोत्कृष्ट आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित हुये, इसी से प्राचीन साहित्य में उन्हें 'समण भयव महावीरे' कहा है।

★

ज्योतिनिकुंज,
चारबाग, लखनऊ–19

महावीर और कबीर की अहिंसा दृष्टि

☐ डा० निजामउद्दीन

महावीर और कबीर दोनों का व्यक्तित्व बड़ा ही क्रान्तिकारी था। दोनों रूढ़ियों, आडम्बरों और कर्मकाण्ड के विरुद्ध थे, जाति-भेदभाव के विरोधी थे और मानवता की एकता में विश्वास करते थे। महावीर अहिंसा के महान उपदेष्टा थे। उनकी अहिंसा दृष्टि बहुत व्यापक है, उसमें मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी, कीट-पतंग सभी सम्मिलित हैं वह प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा-भाव, दयाभाव तथा करुणा-भाव रखते थे। अपने ऊपर उन्होंने अनेक परीषह और उपसर्ग सहन किये परन्तु कभी किसी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया। महावीर समता-पथ के पथिक थे, वहां सबके साथ समानता का व्यवहार किया जाता था-आत्मौपम्य दृष्टि सम्पन्न थे महावीर। फिर वहां चाहे चण्डकौशिक विषधर हो या कोई दुर्दान्त हो या कोई ग्वाला। उनके हृदय में कभी किसी के प्रति कोई द्वेष घृणा नहीं थी। वह तो राग-द्वेष, घृणा-क्रोध, मोह-माया सब से ऊपर उठ चुके थे, पूर्णत जितेन्द्रिय थे, जिनेन्द्र थे, वीतरागी और स्थितप्रज्ञ कर्मवीर थे। उन्होंने "जीवो और जीने दो" का सिद्धान्त विश्व के सामने रखा 'परस्परोपग्रहाजीवानाम।' आज के हिंसा-ग्रस्त और माया-परिग्रह में फंसे संसार को सुख-शांति के मार्ग पर चलने के लिए उनके अहिंसा-धर्म को अपनाना होगा, उनके अनेकान्तवाद को अंगीकार करना होगा। उनका अनेकान्तवाद भी वैचारिक अहिंसा ही है।

जीवन में अहिंसा के फूल खिलें, अहिंसा की सुगंध से कोना-कोना महके तो यह संसार, यह धरती स्वर्ग बन सकती है। सभी धर्म-ग्रन्थों में अहिंसा की महिमा का आलोक पन्ने-पन्ने पर बिखरा है। सन्तों की वाणी अहिंसा की वाणी होती है, उनका लोकाचार अहिंसामय होता है। 'महाभारत' में कहा गया है—

अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
अहिंसा परमोधर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥
सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वं तीर्थेषु चाप्लुतम्।
सर्वं दानं फलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया॥

(अनुशासन पर्व)

अहिंसा परम धर्म है, परम दान है, परम दम है, परम यज्ञ है, परम सुख है, परम तीर्थ है। वास्तव में प्राणीमात्र पर दया-भाव रखने वाला और मांस न खाने वाला व्यक्ति ही दीर्घायु को प्राप्त होता है, वही निरोग तथा सुखी रहता है। महावीर ने अपने पांच अणुव्रतों-महाव्रतों में अहिंसा को सर्वोपरि स्थान दिया है—'अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह।'

अहिंसा में जैनधर्म की सकल अर्थवत्ता तथा मूल्यवत्ता समाहित है। महावीर-धर्म की आधार-

शिला अहिंसा है यही मनुष्य का स्वधर्म है, आत्मा की यही अनुत्तरावस्था है। महावीर ने अहिंसा को धर्म का प्रथम लक्षण कहा है और तितिक्षा या सहिष्णुता को दूसरा लक्षण बताया है—

अहिंसा लक्षणोधर्मस्तितिक्षालक्षणस्तथा ।
यस्य कष्टे धृतिर्नास्ति, नाहिंसा तत्र सम्भवत् ॥

वही व्यक्ति अहिंसा को जानता है जो दूसरों को कष्ट न पहुंचा कर स्वयं अनेको कष्टों, परीषहों को सहन करता है। वह सदा अप्रिय तथा कटु वचनों को सहन करता है, प्रिय तथा अप्रिय दोनो उसके लिए समान होते है। अहिंसक व्यक्ति की दृष्टि समदृष्टि होती है––

अप्रिया सहते वाणी, सहते कर्म चाप्रियम् ।
प्रियाप्रिये निर्विशेपः, समदृष्टिरहिंसक. ॥

'समणसुत्त' मे भगवान महावीर कहते है कि मनुष्य के ज्ञानी होने का सार यह है कि वह किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसामूलक समता ही धर्म है, अहिंसा का विज्ञान भी यही है, सभी प्राणी जीवित रहना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। प्राणवध को भयानक समझकर निर्ग्रन्थ उसका वर्जन करते है—

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिसइ कंचण ॥
अहिंसासमयं चेव, एतावते वियाणिया ॥148॥
सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति ण ॥148॥

कबीर एक वैष्णव संत थे। वह अहिंसा के प्रचारक और मांसहार के कट्टर विरोधी थे। उन्होने हिन्दू–मुसलमान दोनो की हिंसा–भाव की खुलकर निंदा की है। एक स्थान पर वह कहते है—

मास मास सब एक है, मुरगी हिरनी गाय ।
आन देखि जे खात है, ते नर नरकहिं जाय ॥

बकरी पाती खात है ताकी काढी खाल ।
जो नर बकरी खात है ताको कौन हवाल ॥
दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय ।
यह तो खून वह बंदगी कैसे खुशी खुदाय ।

कबीर ने बुराइयो का पाखण्डों का, हिंसा भाव का, मिथ्याडम्बरों का डट कर विरोध किया। हिन्दू समाज में प्रचलित कर्मकाण्ड तथा बलि–प्रथा उन्हें प्रिय नही थी। अस्पृश्यता के वह विरोधी थे। जात–पात को नही मानते थे। ब्राह्मण तथा शूद्र का भेद–भाव अहंकार से पूर्ण था, अभिमानी थे उच्च जाति के लोग। जो अपने घड़े को छूने न दे और वैश्या के चरणों मे पडा रहे क्या इसी को हिन्दुत्व या ब्राह्मणत्व कहा जायेगा ? पण्डितो को कसाई कहने के पिछे कबीर का यही भाव है कि वे हिंसक है, मोह–माया मे काम तृष्णा में नीच वृत्तियों मे फंसे है—

साधो पांडे निपुन कसाई ।
बकरी मारी भेडि को धाये, दिल में दरद न आई ।
करि अस्नान तिलक दे बैठि, विधि सो देवि पुजाई ।
आतम मारी पलक मे विनसे, रुधिर की नदी बहाई ॥

महावीर और कबीर ने आत्मजागृति (Awakening of the Soul) पर बल दिया है। वह आत्मशुद्धि (Purgation) तथा आत्म प्रकाश (Illumination) द्वारा मनुष्य को अज्ञानांधकार से, कुवृतियो मे, लोभ–तृष्णा से, आसक्ति से ऊपर उठाना चाहते थे। 'पापी पूजा बैसि करि भखै मांस मद दोई' जैसी बात कबीर के अहिंसामय हृदय से ही निकल सकती थी। वह वैष्णव धर्म के पथिक थे, किसी प्राणी को कष्ट देना उन्हे प्रिय नही था। वह तो सदा दूसरों के मार्ग को फूलों से भर देना चाहते थे, बुराई का बदला भी भलाई से देते थे–

जो तोको कांटा बुवै, ताहि बोय तू फूल ।
तोहि फूल के फूल है वाको है तिरसूल ॥

उन्होंने किसी को कष्ट देने की बात नहीं सोची, सदैव प्रिय वचन बोलने का आदेश दिया। प्रियवचन बोलना भी अहिंसा है, प्रियवचन औषधि का काम करते हैं, जबकि कटु वचन तीर, शस्त्र के समान घाव करने वाले होते है—

मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
श्रवण द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल सरीर॥

वह जब 'प्रेम के ढाई आखर' पढ़ने की बात कहते हैं तो भी अहिंसा भाव को प्रकट करते हैं। वह किसी भी रूप मे तन–मन–वचन से किसी को कष्ट देना नहीं चाहते। महावीर की अहिंसा की भावना को कबीर ने पूर्णत आत्मसात किया था। कबीर जब कहते है– "साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप", 'दोष पराये देखि कै, चले हसत–हसत। अपने याद न आवई जिनका आदि न अन्त', 'लघुता से प्रभुता मिलै, प्रभुता से प्रभु दूर' या 'साई इतना दीजिए जामे कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा ना रहू, साधु न भूखा जाय', यहा सर्वत्र महावीर की अहिंसा–दृष्टि से लेकर अपरिग्रह दृष्टि की स्पष्ट छाप नजर आती है।

'समण सुत्तं' में महावीर ने कहा है कि जीव का वध करना अपना ही वध करना है, जीवों पर दया करना अपने पर दया करना है। जैसे दुख तुम्हे प्रिय नहीं वैसे ही किसी प्राणी को दुख प्रिय नहीं, अत सब पर आत्मौपम्य दृष्टि रखकर दयाभाव रखना चाहिए—

जीव वहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
ता सव्व जीवहिंसा परिचत्ता अत्तकामेहिं॥
जह ते न पिअ दुक्ख जाणिअ एमेव सव्वजीवाण।
सव्वायरमुवउत्तो अत्तोवम्मेण कुणसु दय॥

महावीर ने रागादि की अनुत्पत्ति को अहिंसा और रागादि की उत्पत्ति को हिंसा माना है। मैं समझता हू यही अहिंसा–हिंसा की मूलभावना है, मूलधारा है यानि राग हिंसा है, विराग अहिंसा है। राग या आसक्ति या मोह ही हिंसा है, यही परिग्रह है। परिग्रह मे हिंसा है क्योंकि उसमें राग है, मूर्च्छा है–मूर्च्छा परिग्रह (तत्वार्थ सूत्र) महावीर की वाणी है–

ममत्व रागसम्भूत वस्तुमात्रेषु यद् भवेत्।
साहिंसाऽभवितरेषैव जीवोऽसौ वध्यतेऽनया॥

हिंसा तीन प्रकार की मानी गई है–आरम्भ, विरोध और सकल्प। कृषि, रक्षा, व्यापार, शिल्प तथा जीविका के लिए की गई हिंसा को आरम्भ–हिंसा' कहते है। गृहस्थ इस हिंसा मे बच नहीं सकता। चूकी कर्म से मुक्त होना मुश्किल है, इसलिए कर्म के साथ हिंसा तो रहेगी ही। लेकिन गृहस्थ को मास, शराब, अण्डे जैसे वृत्तियो से बचना चाहिए। 'विरोध–हिंसा' मे आक्रमणकारी का बल पूर्वक विरोध किया जाता है। यह मान्य है कि मनुष्य को आक्रमण नहीं करना चाहिए। आक्रान्ता होना क्षम्य नहीं, लेकिन यदि कोई आपके देश पर आक्रमण करता है, शत्रु देश–सीमा का अतिक्रमण करता है, चोर–डाकू हमारे घर मे बलपूर्वक घुसता है तो हमें उसको रोकना चाहिए, इसमें हिंसा नहीं। असल हिंसा राग–द्वेष–जनित होती है, इसी को 'सकल्पी–हिंसा' कहा जाता है। महावीर ने इसी प्रकार की हिंसा को गृहस्थ या श्रावक के लिए पाप माना है। हिंसा से बचना सभी के लिए गृहस्थ और साधक के लिए, सयमी के लिए आवश्यक है। कबीर ने काम, क्रोध, लोभ से सावधान रहने का बार–बार आदेश दिया है– 'काम क्रोध लोभ मोह विवरजित हरिपद चीन्है सोई' 'काम क्रोध तिसना के मारे बूडि मुएहु बिनु पानी'। ऐसा साधु बनने का क्या लाभ जो अपनी वाणी पर भी नियत्रण न रख सके, वाणी द्वारा दूसरो की हिंसा करने वाला, साधु – सज्जन नहीं कहा जा सकता —

साधु भया तो क्या भया, बोलै नाहि विचारि।
हतै पराई आत्मा, जीभ बांधि तरवारि॥

मनुष्य को समस्त प्राणियों के प्रति दयालु रहना चाहिए। किसी को किसी रूप मे कष्ट नही पहुँचाना चाहिए। निरवैर निरहकारी रहना ही अहिंसक होना है, संत या सज्जन होना है—

निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विखंया सौ न्यारा रहे, सतनि का अंक एह॥

कबीर कहते है कि दूसरों की हिंसा करके अपने को पालना जीवन की निष्फलता है। मनुष्य से उसके द्वारा की की गई जीव-हत्या का जब लेखा जोखा मागा जायेगा तब कौन उसकी रक्षा करेगा—कौन उसके पापों का भागी बनेगा ? जीव हत्या हिंसा है अधर्म है, इसका लेखा जोखा तो उसे देना होगा ही —

जीअ जू मारहिं जोर करि कहते है जु हलाल।
जब दफ्तरि लेखा मागि है तब होइगा कौन हवाल॥
जोर किया सो जुलुम है लेई जवाब खुदाई।
दफ्तरि लेखा नीकसै मारि मुहैमुहि खाई॥

कबीर ने मांस का क्रय-विक्रय करने, जीव-हत्या करने को महापाप माना है। उन्होने चीटी से हाथी तक को ईश्वर का प्राणी मानकर सब पर दया करने का उपदेश दिया है। ईश्वर को तो अपने सभी जीव प्रिय है, जो इन प्राणियों को कष्ट देगा या उनकी हत्या करेगा उसकी कभी मुक्ति नही होगी— "सबै जीव सांई के प्यारे उबरहुगे किस बोलै।" और कहते हैं—

सरजीव आनै देह विनासै माटी बिसमिल कीआ।
जोति सरूपी हाथि न आया कहौ हलाल वयू कीआ॥

महावीर अहिंसा-धर्म के प्रवर्तक है और कबीर ने भी इसी अहिंसा धर्म को अपने जीवन में भली-भाति उतारा था। वह एक मुस्लिम परिवार में पालित-पोषित थे परन्तु जीव-हत्या को, हिंसा को उन्होने कभी स्वीकार नही किया। उन्होने जब काम, क्रोध, तृष्णा, मोह आदि विकारो को नष्ट करने या इन्द्रिय-निग्रह करने की बात कही तो उसके पीछे भी उनकी अहिंसा-भावना छिपी हुई है। आज के संदर्भ मे महावीर और कबीर की अहिंसा भावना मानवजाति का कल्याण करने वाली है, इसमें कोई सदेह नही, क्योकि सकल संसार और स्वयं हमारा भारत हिंसा की लपटों में घिरा है। महावीर की अहिंसा उन लपटों को पल भर में शांत कर सकती है। महावीर ने तो हमेशा यही उपदेश दिया है कि किसी जीव का हनन नहीं करना चाहिए, यह सब तीर्थकरों का अमृतोपदेश है—

अतीतैर्भाविभिश्चापि वर्तमानै. समर्जितः।
सर्वे जीवा न हन्तव्या, एप धर्मो निरूपित.॥

हमे 'स्व' की केचुली से बाहर आकर सभी के प्रति आत्मवत व्यवहार करना चाहिए—आत्मवत सर्व-भूतेपु। कामायनीकार ने भी यही बात कही है—

औरो को हसते देख मनु
हसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो,
सबको सुखी बनाओ॥

★

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
इस्लामिया कालेज,
श्रीनगर कश्मीर—190002

क्या तीर्थंकर बोलकर उपदेश देते है ?

☐ प्रतापचन्द्र जैन

दिगम्बर मान्यता है कि केवल ज्ञान प्राप्त होने पर समवसरण मे अरहंत भगवान की लोक कल्याणार्थ दिव्य ध्वनि खिरती है। अंतिम तीर्थंकर महावीर की भी दिव्य ध्वनि खिरी थी। लेकिन हमारे विद्वान फरमाते हैं कि महावीर ने यह कहा महावीर ने वह कहा। जब उन्होंने मुख से ही कहा तब दिव्य ध्वनि से क्या तात्पर्य है ? श्वेताम्बर मान्यता अवश्य मुख से उपदेश देने की है।

तीर्थंकर के समवसरण (धर्म सभा) मे मनुष्य देव और तिर्यंच गति के पशु पक्षी आदि सभी पहुंचते थे और धर्मलाभ लेते थे। प्रश्न उठता है कि यदि तीर्थंकर बोलकर ही उपदेश देते हैं तो वह कौनसी बोली (भाषा) थी जिसे वे सभी प्राणी समझ लेते थे ? क्या कोई ऐसी भाषा होती है, जिसे सभी समझ सकें ? कहते है कि वह अर्धमागधी भाषा थी। इसे विभिन्न भाषा भाषी मनुष्य गति वाले समझ लें यह तो हो सकता है, परन्तु देव और तिर्यच भी उसे समझ लेते हो, यह समझ से बाहर है। एक प्रश्न यह और उठता है कि महावीर को वैसाख शुक्ला 10 को कैवल्य तो प्राप्त हो गया और समवसरण की रचना भी हो गई। प्रभु वहा मध्य मे विराजमान है तथा सभी गतियो के श्रद्धालु प्राणी भी वहा पहुंच गये है, फिर भी भगवान का उपदेश नही हुआ। उनकी दिव्य-ध्वनि खिरी 65 दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन। आचार्य वीर सेन स्वामी ने इसका समाधान यह कहकर किया है कि गणधर न होने से उतने दिन तक दिव्यध्वनि की प्रवृत्ति नही हुई। वह खिरी भी तभी जब सौधर्म इन्द्र के अवधिज्ञान एव सद्प्रयास से महान् विद्वान और आत्मबलशाली गौतम वहा उपस्थित हुए।

यह तो श्वेताम्बर भी मानते हैं कि गणधर गौतम स्वामी के आगमन पर ही भगवान का उपदेश शुरू हुआ था। फर्क केवल इतना है कि दिगम्बर कैवल्य प्राप्त और दिव्यध्वनि के खिरने का अन्तराल 65 दिन का मानते हैं और श्वेताम्बर केवल एक दिन का। तो जैसी कि हमारी मान्यता है ध्वनि खिरी भगवान की ज्ञानात्मा से और वह दिव्य थी, उनकी दिव्यता यह थी कि उसे सभी जातियों के प्राणी अपनी 2 बोली मे समझ लेते थे। बहरो को जो हमारी बोली सुन नही सकते हम इशारो से अपना मन्तव्य बताते हैं और वे उसे समझ लेते हैं। हमारे ध्वनिरूप अथवा अन्य इशारो मे जब इतनी सामर्थ्य है तब वह ध्वनि तो दिव्य है जो खिरती है अनन्त शक्तिशाली तीर्थंकर की अनन्त ज्ञानात्मा से, और भिन्न-भिन्न योग्यता, विचारो और शंकाओ वाले विभिन्न गतियो के प्राणी उसे समझ लेते हैं अपनी अपनी बोली मे।

गिरगिट्ट ध्वनिया ही तो है जिनसे हम तारो द्वारा मतलब समझ लेते हैं। पशु पक्षियो की बोलिया भी तो ध्वनिया ही हैं

जिनसे हम जान लेते है कि अमुक पक्षी या पशु किस किस्म (पर्याय) के है। उनसे आत्मीयता बढ़ जाने पर हम उन ध्वनियो का सार भी जान लेते है, यन्त्रों द्वारा रेखांकित होने पर वनस्पतियों की ध्वनिया (धडकनें) भी समझ ली जाती है, वगैर देखे ही ध्वनियो से हमे वायु, नदी, बिजली तथा विभिन्न यानों आदि का बोध हो जाता है, अनन्त-चतुष्टयी तीर्थंकर की अनन्त ज्ञानात्मा से खिरी ध्वनि का हमारे लिये यह चमत्कार कतई आश्चर्य-जनक या अनहोना नही है।

उस अनन्त ज्ञानी से ही तो हमने जाना है कि कोई भी व्यक्ति एक ही समय में एक ही साथ पूर्ण सत्य को नही कह सकता। यह तो और भी असंभव है कि वह विभिन्न बोलियो और समझ वाले विभिन्न जातियो के पक्षियो को एक ही भाषा (बोली) मे कह और समझा सके। यह तो हो सकता है कि वह अलग-अलग टुकड़ियो को अलग-अलग समय में और अलग-अलग भाषाओं में अपनी बात को समझा दे। यह सामर्थ्य तो उस दिव्य ध्वनि में ही है जो ऐसे अनन्त ज्ञान से खिरती है जिसमे तीनो लोकों और तीनो कालों की बातें एक साथ झलकती है।

मुंह से बोलकर अपनी बात सामने वालो से ही कही जा सकती है पीछे वालो से नही। पीछे वालो से उनकी ओर मुड़कर ही कही जा सकती है। प्राय: कहेंगे कि ध्वनिवर्धक यन्त्र से मुड़ने की जरूरत नही होती। ठीक है, परन्तु एक तो उसे यन्त्र का सहारा लेना पडता है, फिर उसकी आवाज फेंकने वाले संसाधनों के मुंह चारों ओर रखने होते है जब कि बीच समवसरण मे विराजे तीर्थंकर की ध्वनि वगैर मुडे ही और वगैर किसी यांत्रिक सहायता के सूर्य की किरणो की भांति चारों ओर ही नहीं कोने-कोने में एक ही साथ पहुंच जाती है। यह विशेषता उस ध्वनि में है। इसीलिये वह दिव्य है।

मेरा यह निष्कर्ष न केवल श्रद्धावश है और न इसे कल्पित ही कहा जा सकता है, विज्ञान ने इसे आज सत्य कर दिखाया है। रोबोट और कम्प्यूटर के आविष्कारों ने इसे सत्य सिद्ध कर दिया है। कम्प्यूटर सही और झूठ को सामने ला देंगे, किसी भी रोग का सही निदान कर उसका सही उपचार वे बता देंगे। गणित के जटिल से जटिल प्रश्नों का हल वे पलक झपकते निकाल देंगे। ये रोबोट और कम्प्यूटर चाहे जितने विकसित हो जाय फिर भी वे रहेंगे सीमित ज्ञान और सीमित शक्ति वाले ही, जब कि तीर्थंकर की शक्ति अनन्त होती है और ज्ञान भी उनका असीमित व अनन्त। उसके ज्ञान से खिरी ध्वनि के लिए असम्भव नाम की कोई चीज है ही नही। कम्प्यूटर को कोई भी साधारण योग्यता या दक्षता वाला मनुष्य सार्थ-ध्वनित नही कर सकता जब कि तीर्थंकर अनन्त चतुष्टयी होते है। उनकी दिव्य ध्वनि तब तक नही खिरती जब तक कि उसके स्फुरित करने की योग्यता/दक्षता वाला कोई महामनीषी शिल्पी नही मिल जाता। वह योग्यता/दक्षता प्रमुख गणधर मे ही होती है। या तो यह कहना गलत है कि तीर्थंकर के समवसरण में पशु पक्षी सहित सभी जातियो के प्राणी आत्म कल्याणार्थ पहुंचते थे या फिर यह गलत है कि चारघातिया कर्मो का क्षय करने वाले, तीनो गुप्तियो के पूर्ण पालक अनन्त चतुष्टयी पूर्ण वीतरागी अरहंत भगवान बोलकर उपदेश देते थे।



21/63, धूलियागंज, आगरा–3

कर्मयोगी महावीर

☐ राजकुमार जैन एडवोकेट
एम ए, एल एल बी

कमयोगी महावीर ने अपने श्रम साधना और तप द्वारा अगणित प्रकार के उपसर्गों को महन किया। महावीर के व्यक्तित्व मे कमयोग की साधना कम महत्वपूर्ण नही है। वे स्वय बुद्ध थे, स्वय जागरूक थे और बोध प्राप्ति के लिये स्वय प्रयत्नशील थे। न कोई उनका गुरु था और न किसी शास्त्र का आधार ही उन्होने ग्रहण किया था। न कमठ थ और स्वय उन्होने पथ का निर्माण किया था। उनका जीवन भय व राग द्वेष सभी से मुक्त था। वे नील गगन के नीचे हिसक जन्तुओ से परिपूर्ण निजन वनो म कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानस्थ हो जाते थे। वे कभी मृत्युछाया से आक्रान्त श्मशान भूमि मे, कभी गिरी कन्दराओ मे, कभी गगनचुम्बी उत्तग पर्वतो के शिखरो पर और कभी कल-कल छल-छल निनाद करती हुई सरिताओ के तटो पर और कभी जनाकीर्ण राजमार्ग पर कायोत्सर्ग मुद्रा मे अचल और अडिग रूप से ध्यानस्थ खडे रहते थे। वे कमयोगी शरीर मे रहते हुये शरीर से पृथक्, शरीर की अनुभूति स भिन्न, जीवन की आशा और मरण के भय से विमुक्त स्वकी शोध मे सलग्न रहते थे।

अनार्य देश मे साधना करते हुये महावीर के स्वरूप से अनभिज्ञ व्यक्तियो ने उन्हें गालिया दी पाषाण बरसाए, दण्डो से पूजा की, चीटियो ने काटा, पर महावीर अपने साहस मे विचलित न हुये। उनकी अपूर्व सहिष्णुता और अनुपम शान्ति विरोधियो का हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्ट का साहस के साथ स्वागत करते थे। उन्होने रागद्वेष विकल्पो को हटाकर आत्मा को अखण्ड ज्ञान-दर्शन चैतन्य रूप मे अनुभव करने का पथ आलोकित किया था। कमयोगी महावीर का सवेदनशील हृदय करुणा से सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धम के नाम पर होने वाले हिंसा ताण्डव से अत्यन्त द्रवीभूत थे। महावीर ने प्राणिमात्र को अन्तिम श्वास तक स्वाधीनता पूवक जीवित रहने और कार्य करने का सही मार्ग निर्दिष्ट किया। हिंसा, असत्य, शोषण, सचय और कुशील से सत्रस्त मानवता की रक्षा की। क्रूरतापूवक किये जाने वाले अश्वमेध, नरमेध आदि को दूर कर अहिंसा और मैत्री भावना का प्रचार किया। वास्तव मे कमयोगी महावीर के व्यक्तित्व मे करुणा का अपूव समवाय था। वे इस लोक के समस्त प्राणियो का आत्मविकास और लोक कल्याण चाहते थे और तदनुकूल प्रयास करते थे।

कमयोगी महावीर के व्यक्तित्व की सबसे बडी गहराई लोक कल्याण और लोकप्रियता की है। इन्होंने अपनी साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त कर आत्म कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण

की प्रेरणा दी, सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन कर अशान्त जनमानस को शान्ति प्रदान की। कर्मयोगी महावीर मानव मात्र का ही नही प्राणि मात्र का उदय चाहते थे। उनका सिद्धान्त था कि दूसरो का बुरा चाहकर कोई अपना भला नही कर सकता। मानव मानव के बीच भेद-भाव की जो दीवारें खड़ी की गई है वे अप्राकृतिक है। रगभेद, वर्णभेद, जातिभेद, कुलभेद, देश और प्रान्त भेद आदि सभी मानवता के विघातक है। तनाव का वातावरण और अविश्वास की खाई को दूर करने का एक मात्र साधन जन-सामान्य को पारस्परिक सहयोग और कल्याण के लिये प्रेरित करना है। स्वर्ग के देव विभूति मे कितने ही वड़े क्यों न हों, उनका स्वर्ग कितना ही सुन्दर और सुहावना क्यो न हो पर वे मनुष्य से महान नही है। मनुष्य के त्याग और इन्द्रिय सयम के प्रति उन्हें भी नतमस्तक होना पड़ता है। मानवता के कारण सभी मनुष्य समान हैं, जन्म से कोई भी व्यक्ति न वड़ा है न छोटा, वह कर्म से महान होता है।

महावीर भी कर्म से महान थे। उनके व्यक्तित्व के कण-कण का निर्माण आत्म-कल्याण और लोकहित के लिये हुआ था। कर्मयोगी महावीर का सिद्धान्त था कि स्वयंकृत कर्म का शुभाशुभ फल प्राणि को अकेले ही भोगना पडता है। कर्मावरण को छिन्न करने के लिये किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नही है। यदि किसी व्यक्ति को किसी दूसरे के सुख-दुख और जीवन-मरण का कर्त्ता मान लिया जाय तो यह महान अज्ञान होगा और स्वयंकृत शुभाशुभ फल निष्फल हो जायेगे। यह सत्य है कि किसी भी द्रव्य मे पर का हस्तक्षेप नही चलता है। हस्तक्षेप की भावना ही आक्रमण को प्रोत्साहित करती है। यदि हम अपने मन से हस्तक्षेप करने की भावना को दूर कर दे तो फिर हमारे अन्तस् मे सहज ही अनाक्रमणवृत्ति प्रादुर्भूत हो जावेगी। आक्रमण प्रत्याक्रमण को जन्म देता है और यह आक्रमण प्रत्याक्रमण की परम्परा विश्व-शान्ति मे विघ्न उत्पन्न करती है। इस प्रकार कर्मयोगी महावीर के व्यक्तित्व मे स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता की भावना पूर्णतया समाहित थी। उन्होंने मानव जगत में वास्तविक सुख और शान्ति की धारा प्रवाहित की और मनुष्य के मन को स्वार्थ एव विकृतियों से रोककर इसी धरती को स्वर्ग बनाने का सन्देश दिया। महावीर ने शताब्दियो से चली आ रही समाज विकृतियो को दूर कर भारत की मिट्टी को चन्दन बनाया। वास्तव मे महावीर के व्यक्तित्व को प्राप्तकर धरा पुलकित हो उठी, शत-शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्ति की त्रिवेणी प्रवाहित होने लगी। उनके कर्मयोगी व्यक्तित्व से कोटि-कोटि मानव कृतार्थ हो गये।

ढाना
जिला सागर (म० प्र०)

महावीर की दिव्य ध्वनी ही कर सकती जग का उत्थान

रचियता—बिहारी लाल मोदी शास्त्री, बड़ा मलहरा

महावीर की दिव्य ध्वनि ही, कर सकती जग का उत्थान ।
उनके आदर्शों को अपना कर, नर कर सकता निज कल्याण ॥1॥
छाई हिंसा आज जगत मे बढा हुआ है अत्याचार ।
मानव को नित मानव मारे, भूल गया है दया विचार ॥
धधक रहा पजाब आज है, जलती हिंसा भीषण आग ।
काट रहा है आज सभी को, कषाय भाव का काला नाग ॥
शमन न हो हिंसा से हिंसा, गहो अहिंसा अस्त्र महान ।
महावीर की दिव्य ध्वनि ही, कर सकती जग का कल्याण ॥ 2 ॥
तृष्णा खाई विस्तृत भारी, बढा हुआ है लोभ अपार ।
भौतिकता मे अन्धा मानव, विषय भोग का हुआ प्रसार ॥
धन से मिलें विषय के साधन, इससे फैला भ्रष्टाचार ।
न्याय नीति ईमान छोडके, नर करता काला बाजार ॥
इसीलिए तो है आवश्यक, करना परिग्रह का परिणाम ।
महावीर की दिव्य ध्वनि ही, कर सकती जग का कल्याण ॥ 3 ॥
एकान्तवाद के द्वारा जग में, बढे परस्पर बैर विरोध ।
अहं भाव की तुष्टि हेतु ही, पर से लेता नर प्रतिशोध ॥
अनेकान्त के "भी" के द्वारा, द्वेष भाव का होय निरोध ।
समता दया क्षमा के द्वारा, पाप मैल का होगा शोध ॥
छोटा बडा नही है कोई, जीव जगत के एक समान ।
महावीर की दिव्यध्वनि ही, कर सकती जग का कल्याण ॥ 4॥
अगर चाहते शान्ति विश्व मे, वीर धर्म का करो प्रसार ।
महावीर के सिद्धान्तो का, करना होगा मनन विचार ॥
सत्य अहिंसा क्षमा दया औ, करें परस्पर प्रेमोपकार ।
इनके द्वारा हो मानव का, सम्भव करना है उद्धार ॥
वीर वचन जो धरे "बिहारी", बन जावेगा पूज्य पुमान ॥
महावीर की दिव्य ध्वनि ही, कर सकती जग का कल्याण ॥ 5 ॥

'गुणस्थान'

□ पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

मोह और योग के निमित्त से होने वाले आत्म परिणामो के तारतम्य को गुणस्थान कहते है। आचार्यो ने गुणस्थान के 14 भेद बतलाये है— (1) मिथ्यात्व (2) सासादन सम्यग्दृष्टि (3) मिश्र (4) अविरत सम्यग्दृष्टि (5) देशविरत (6) प्रमत्त विरत (7) अप्रमत्त विरत (8) अपूर्व करण (9) अनिवृत्ति करण (10) सूक्ष्म सांपराय (11) उपशान्त कषाय (12) क्षीण मोह (13) सयोग केवलिजिन और (14) अयोगकेवलिजिन। इनमे से प्रारम्भ के 12 गुणस्थान मोह से सम्बन्ध रखते है अर्थात् उसके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम अवस्था से प्रकट होते है और अन्त के 2 गुणस्थान योग से सम्बद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि सयोग केवलिजिन, योग के सद्भाव मे होता है और अयोग केवलिजिन, योग के अभाव में प्रकट होता है। प्रारम्भ से लेकर दसवें गुणस्थान तक योग और कषाय दोनो क्रियाशील रहते हैं अर्थात् दोनो के निमित्त से बन्ध होता है और 11, 12 तथा 13वे गुणस्थान मे मात्र योग क्रियाशील रहता है अर्थात् एक योग ही बन्ध का कारण रहता है। चौदहवे गुणस्थान मे योग का भी अभाव हो जाता है अतः वहा बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाने से पूर्ण संवर हो जाता है।

आगे मिथ्यात्व आदि गुणस्थानो के संक्षिप्त स्वरूप पर विचार कर लेना आवश्यक है।

(1) मिथ्यात्व-मिथ्या दृष्टि गुणस्थान

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जहां मोक्ष मार्ग मे प्रयोजन भूत जीव-अजीव आदि सात तत्त्व, पुण्य पाप सहित नौ पदार्थ, देव शास्त्र गुरु और परद्रव्यो से भिन्न ज्ञायक स्वभावी आत्मा का श्रद्धान नही होता है उसे मिथ्या दृष्टि गुणस्थान कहते है। इस गुणस्थान के दो भेद है— स्वस्थान मिथ्यादृष्टि और सातिशय मिथ्यादृष्टि। जो जीव अनादि काल से मिथ्यात्व मे ही रच पच रहा है उसे स्वस्थान मिथ्यादृष्टि कहते है और जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के सम्मुख होकर अध करण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाता है। कषाय की तीव्रता और मन्दता की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाले जीव की परिणति मे भी बडा परिवर्तन देखा जाता है। कषाय की मन्दता मे मिथ्यादृष्टि जीव महाव्रत धारण कर मुनि भी बन जाता है और नवम् ग्रैवेयक में तथा एक मिथ्या दृष्टि कषाय की तीव्रता से मुनि घात जैसा पाप कर सप्तम नरक तक मे उत्पन्न हो जाता है।

(2) सासादन गुणस्थान

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। औपशमिक सम्यग्दर्शन

का काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इनके काल मे कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली प्रमाण काल बाकी रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ मे से किसी एक का उदय आ जाता है तब वह सम्यक्त्व से च्युत होकर द्वितीय सासादन गुणस्थान मे आ जाता है और औपशमिक सम्यग्दर्शन का काल समाप्त होने पर नियम से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान मे आता है। अनन्तानुबन्धी का उदय आने से इसका सम्यग्दर्शन आसादना-विराधना के सहित हो जाता है। अत उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते है।

(3) मिश्र गुणस्थान

सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जहा ऐसे भाव होते हैं कि जिन्हें न तो सम्यक्त्व रूप कहा जा सकता है और न मिथ्यात्व रूप ही, उसे मिश्र गुणस्थान कहते हैं। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड का स्वाद, न खट्टा है और न मीठा ही, किन्तु मिश्र रूप रहता है उसी प्रकार मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम भी मिश्र रूप रहते हैं। इस गुणस्थान मे न तो मृत्यु होती है और न मारणान्तिक समुद्घात। चतुर्थ गुणस्थान से पतन कर जीव मिश्र गुणस्थान मे आता है। कोई सादि मिथ्या दृष्टि जीव भी सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आने पर मिश्र गुणस्थान मे पहुंचता है। चूंकि इस गुणस्थान मे मृत्यु नही होती अत किसी भी गति की अपर्याप्तक अवस्था में यह गुणस्थान नहीं होता, किन्तु पर्याप्तक अवस्था मे सर्वत्र होता है। अनुदिश और अनुत्तर विमान वासी देवों में मात्र चतुर्थ गुणस्थान ही रहता है, अन्य गुणस्थान नहीं। कारण यह है कि वहा सम्यग्दृष्टि ही रहते हैं, अन्य नही।

(4) अविरत सम्यग्दृष्टि

जहा मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियो के उपशम, क्षयोपशम अथवा क्षय से जीवाजीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान हो जाता है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो का उदय रहने से देशविरत या सर्वविरत-चारित्र नही होता उसे अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव सर्वप्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर इस गुणस्थान मे आता है। कोई सादि मिथ्यादृष्टि जीव क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर भी इस गुणस्थान मे आता है और कोई उपरितन गुणस्थानवर्ती जीव भी चरित्र मोह सम्बन्धी अप्रत्याख्यानावरणादि प्रकृतियों का उदय आने पर पतन कर इस गुणस्थान मे आता है। यद्यपि चारित्रमोह का उदय रहने से यहा कोई चारित्र नही होता तथापि प्रशम-संवेग-अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणो के प्रकट हो जाने से इस गुणस्थानवर्ती जीव की मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य के सेवन मे प्रवृत्ति नही होती।

(5) देशविरत

जिस सम्यग्दृष्टि जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अनुदय-क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषाय का मन्द उदय होने से हिंसादि पाच पापो से एक देश निवृत्ति हो जाती है वह देश विरत या देश सयत कहलाता है। स्थूल हिंसादि का त्याग होने से सयत और स्थावर हिंसादि सूक्ष्म पापो का त्याग न होने से असयत, इस तरह इस गुणस्थानवर्ती जीव को सयतासयत भी कहते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि तो इस गुणस्थान को प्राप्त कर ही सकता है परन्तु अनादि मिथ्यादृष्टि भी एक साथ औपशमिक सम्यग्दर्शन तथा देशचारित्र को प्राप्त कर इस गुणस्थान को प्राप्त कर लेता है। षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनि भी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय आ जाने से पतन कर इस गुणस्थान मे आ जाते हैं।

(6) प्रमत्तसंयत

प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का अनुदय-क्षयोपशम होने पर जहां हिंसादि पांच पापों का सर्व देश त्याग हो जाता है उसे प्रमत्त विरत या प्रमत्त संयत कहते है। यहां संज्वलन चतुष्क का तीव्र उदय रहने से विकथा आदि प्रमाद लगा करते है इसलिये इसके साथ प्रमत्त शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रथम, चतुर्थ अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती जीव के जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होता है तब वह सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान में आता है और अन्तर्मुहूर्त मे पतनकर प्रमत्तविरत नामक षष्ठ गुणस्थान मे आता है। यह गुणस्थान पतन की अपेक्षा ही होता है उत्पतन की अपेक्षा नही। इस गुणस्थान मे रहने वाले मुनि चरणानुयोग में प्रतिपादित अट्ठाईस मूल गुणों का निर्दोष पालन करते है। कभी-कभी सभी कषायो की मन्दतर अवस्था मे मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी, यही नही, अभव्य मिथ्या दृष्टि मनुष्य भी चरणानुयोग प्रतिपादित मूल गुणो का पालन करते हुए मुनि हो जाते हैं, परन्तु करणानुयोग की अपेक्षा वे प्रथम गुणस्थानवर्ती ही रहते है। सप्त तत्त्व के श्रद्धान मे उनकी कोई ऐसी सूक्ष्म भूल रह जाती है जिसे वे स्वयं नही समझ पाते। ऐसे मुनियों की बाह्य मे कोई पहिचान नही रहती। अतः वे भाव लिङ्गी मुनियों के समान ही पूजनीय, वन्दनीय तथा आहार आदि देने के योग्य होते हैं। पूजा-वन्दना आदि कार्य चरणानुयोग के अनुसार होते हैं, परन्तु कर्मास्रव, वन्ध, करणानुयोग के अनुसार होते हैं।

(7) अप्रमत्त संयत

जहां संज्वलन का तीव्र उदय समाप्त हो जाने से विकथा आदि प्रमादो का सद्भाव नही रहता उसे अप्रमत्त विरत अथवा संयत गुणस्थान कहते है। इसके दो भेद है—स्वस्थान अप्रमत्तविरत और सातिशय अप्रमत्तविरत। स्वस्थान अप्रमत्त विरत वाला पतन कर षष्ठ गुण स्थान में आता है और पुन: सप्तम गुणस्थान मे जाता है। यह छठवे और सातवे गुणस्थान का परिवर्तन एक जीवन में हजारो बार चलता रहता है। जो मुनि चारित्र मोह की उपशामना अथवा क्षपणा करने के लिए उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी मांड़ने की तैयारी मे हैं वे सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाते हैं। इनकी अपेक्षा इस गुणस्थान का दूसरा नाम अधःकरण भी है। जहां सम और विषम समयवर्ती जीवो के परिणाम समान और असमान—दोनो प्रकार के होते हैं उसे अधःकरण कहते हैं। यह सप्तम गुणस्थान, प्रथम, चतुर्थ पंचम और षष्ठ गुणस्थान से प्राप्त किया जा सकता है और पतन की अपेक्षा अष्टम गुणस्थानवर्ती मुनि भी इस गुणस्थान मे आते है। यहां परिणामों की विशुद्धता मन्थर गति से बढती है अतः उत्तर समयवर्ती जीवों के कुछ परिणाम पिछले समयवर्ती जीवों के परिणामो से समान और असमान—दोनो प्रकार के होते हैं। यहा तथा अष्टम और नवम् गुणस्थान मे परिणामो की समानता एवं असमानता नाना जीवो की अपेक्षा घटित होती हैं।

(8) अपूर्वकरण

विशुद्धता का वेग बढ जाने से जहाँ प्रत्येक समय अपूर्व-अपूर्व नये-नये करण-परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इन अपूर्व अपूर्व परिणामो के फलस्वरूप गुण संक्रमण, स्थिति काण्डक घात अनुभाग काण्डक घात और गुण श्रेणी निर्जरा होती है। अधःकरण गुणस्थान मे जितना काल लगता है उससे यहाँ अल्पकाल लगता है परन्तु परिणामो की संख्या बहुत होती है। इस गुणस्थान में उत्पतन की अपेक्षा सप्तम गुणस्थान से और पतन की अपेक्षा नवम् गुणस्थान से जीव आते हैं।

(9) अनिवृत्तिकरण

जहां सम समयवर्ती जीवो के परिणाम समान

और भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम भिन्न ही होते ह तथा एक समय मे एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्ति कहते हैं। अपूर्वकरण गुणस्थान मे कह गये चार आवश्यक भी यहा प्रारम्भ म कुछ समय तक होते रहते हैं। उसके बाद उपशम श्रेणी वाला चारित्र माहनीय की प्रकृतियो का उपशम और क्षपक श्रेणी वाला क्षय करता ह। दशम गुणस्थान मे प्रवेश करते समय केवल सज्वलन कषाय सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ का उदय रहता है अन्य का उपशम या क्षय हो चुकता ह। इस गुणस्थान के पूर्वार्ध तक वेद का उदय रहता है इसलिय उसे सवेद सकषाय कहते हैं और उसके बाद वद का उदय न रहन से अवेद सकषाय कहते हैं। ध्यान रहे कि चारित्र मोहनीय का बन्ध नवम् गुणस्थान तक ही होना है उसके आग उसका सवर हा जाता है।

(10) सूक्ष्म साम्पराय

जहा मात्र सज्वलन सम्बन्धी लोभ कषाय का सूक्ष्म उदय शेष रह जाता है उसे सूक्ष्म सापराय कहत ह। अतर्मुहूत के भीतर उस सूक्ष्म लाभ का, उपशम श्रेणी वाला उपशम कर चुकता है और क्षपक श्रेणी वाला क्षय। सकषाय अवस्था दशम गुणस्थान तक उसके आगे निष्कषाय या वीतराग दशा प्रकट हो जाती है। सापरायिक आस्रव इसी गुणस्थान तक होता है तथा चार प्रकार का बन्ध भी यहीं तक होता है *। आगे 11, 12 और 13वें गुणस्थान मे मात्र ईर्यापथ आस्रव एव प्रकृति और प्रदेश बन्ध ही होते हैं। उत्पतन की अपेक्षा इस गुणस्थान मे नवम गुणस्थान से जीव आते हैं और पतन की अपेक्षा ग्यारहवें गुणस्थान स पतन कर आते ह।

(11) उपशान्त कषाय—उपशान्त मोह

जहा चरित्र के मोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से उपशम हो जाता है उसे उपशान्त मोह या उपशान्त कषाय कहते हैं। उत्पतन की अपेक्षा इसमें दशम गुणस्थान से जीव आते हैं। बारहवें आदि गुणस्थानो मे पतन नही होता। अत पतन की अपेक्षा कोई जीव उपरितन गुणस्थानो से पतन कर इस गुणस्थान मे नहीं आते। परन्तु इस गुणस्थान से पतन कर जीव दशम गुणस्थान मे जाते हैं अथवा मृत्यु हो जान पर सीधे चतुर्थ गुणस्थान मे आते हैं। उपशान्त कषाय गुणस्थान वाला जीव क्रम से पतन करता हुआ प्रथम गुणस्थान तक पहुँच जाता है परन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव चतुर्थ गुणस्थान से नीचे नहीं जाता।

(12) क्षीणमोह

जहाँ मोहनीय कर्म की सत्ता नहीं रहती वह क्षीणमोह गुणस्थान कहलाता है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है। इसके भीतर शुक्ल ध्यान के प्रभाव से जीव शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर तरहवें गुणस्थान मे प्रवेश करते है। इस गुणस्थान से किसी का पतन नही होता।

(13) सयोग केवलिजिन

जहा चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है साथ ही योग विद्यमान रहते हैं इसलिये उन्ह सयोग केवलिजिन कहते हैं। इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक कोटि पूर्व वर्ष है। यदि कोई तीर्थंकर केवली होते है तो उनका देवरचित समवसरण होता है और सामान्य केवली की गन्ध कुटी बनती

* चार प्रकार का अनुभाग बन्ध यथा, साता का गुड, खाड, शकरा और अमृत रूप। -सम्पादक

है। अन्तकृत केवली अन्तर्मुहूर्त के भीतर चतुर्दश गुणस्थान मे प्रवेश कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, इनकी दिव्य ध्वनि नही खिरती। इस गुणस्थान-वर्ती मुनियो को जीवन्मुक्त, जिन या अरहत कहते है।

(14) अयोग केवलि जिन

जिन केवलियों के योग भी नष्ट हो जाता है उन्हे अयोगकेवलि जिन कहते है। यहां शील के अठारह हजार भेदो की पूर्णता हो जाती है इसलिए इन्हे शैलेश्य–शील का ईश्वरपना प्राप्त होता है। इस गुणस्थान वर्तीजीव के एक भी कर्म प्रकृति का बन्ध नही होता। इसका काल 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच अक्षरों के उच्चारण मे जितना काल लगता है उतना है। इसके उपान्त्य समय मे 72 और अन्तिम समय मे 13 प्रकृतियो का क्षय कर यह जीव ऊर्ध्वगति स्वभाव के कारण एक समय के भीतर सातराजू प्रमाण गमन कर सिद्धालय में सदा के लिए विराजमान हो जाता है। लोक के ऊपर तनुवातवलय का उपरितन 525 धनुष की मोटाई वाला क्षेत्र सिद्धालय कहलाता है यह 45 लाख योजन विस्तार वाला है। सब सिद्धजीवो का निवास यही होता है। $3\frac{1}{2}$ हाथ से कम और 525 धनुष से अधिक अवगाहना वाले जीव मोक्ष नही जाते। सिद्ध परमेष्ठी गुणस्थानातीत होते है अर्थात् उनके कोई भी गुणस्थान नही होता।

इस तरह गुण स्थानों का सामान्य स्वरूप और उनके उत्पतन-निपतन का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद निम्नाङ्कित बातों पर भी ध्यान रखना चाहिए।

श्रेणियां और गुण स्थान

उपशम और क्षपक के भेद से श्रेणी के दो भेद है। उपशम श्रेणी, द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि मांडते हैं परन्तु क्षपक श्रेणी क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही माडते है। श्रेणियो का प्रारम्भ अपूर्वकरण गुणस्थान से होता है। उपशम श्रेणी के 8, 9, 10 और 11 ये चार गुणस्थान है तथा क्षपक श्रेणी के 8, 9, 10 और 12 ये चार गुणस्थान है। उपशम श्रेणी एक भव में 2 बार से अधिक नही मोड़ी जा सकती और अनेक भवों की अपेक्षा चार बार। इससे अधिक उपशम श्रेणी नही होती। भावलिङ्गी मुनिपद भी 32 बार से अधिक प्राप्त नही होता। 32 वी बार के मुनिलिङ्ग से नियमन–मोक्ष प्राप्त कर लेता है। क्षपक श्रेणी एक बार से अधिक नही मांड़नी पड़ती।

सम्यग्दर्शन और गुणस्थान

सम्यग्दर्शन के तीन भेद है —1. औपशमिक, 2. क्षायोपशमिक और क्षायिक। औपशमिक के 2 भेद है–1. प्रथमोपशम और 2. द्वितीयोपशम। प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक, द्वितीयोपशम चतुर्थ से ग्यारहवे तक और क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ से चौदहवे तक तथा सिद्ध अवस्था में भी विद्यमान रहता है। द्वितीयोपशम और क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को होती है, औपशमिक सम्यग्दृष्टि को नही। प्रथमोपशम के छूटने पर दूसरी बार क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। परन्तु वेदक का काल निकल जाने पर प्रथमोपशम के बाद पुनः प्रथमोपशम प्राप्त हो सकता है*। क्षायिक सम्यग्दर्शन के सन्मुखजीव करण कर पहले अनन्तानुबन्धी को अप्रत्याख्यानादि रूपकर विसंयोजित करता है पश्चात् फिर से करण कर मिथ्यात्व को सम्यङ्मिथ्यात्व सम्यङ्-मिथ्यात्व को सम्यक्त्व प्रकृति रूप करता है। जिसकी सत्ता मे सिर्फ सम्यक्त्व प्रकृति शेष रही है

*सम्यक्त्व और सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतियां मिथ्यात्व रूप परिणित हो जाये तब वेदक का काल समाप्त कहा जायेगा। —सम्पादक

वह कृतकृत्यवेदक सम्यक्दृष्टि कहलाता है। आयु समाप्त होने पर बद्धायुष्क जीव चारो गतियो मे जा सकता है।

आयुबन्ध और गुणस्थान

प्रथम गुणस्थान मे चारो आयुओ का बन्ध होता है द्वितीय गुणस्थान मे तियन्च, मनुष्य और देव का बन्ध होता है, तृतीय गुण स्थान मे किसी आयु का बन्ध नही होता, चतुथ गुण स्थान मे देव और नारकियो के मनुष्यायु का बन्ध होता है परन्तु मनुष्य और तियन्चो के देवायु ही का बन्ध होता है। पाचवे, छठवें और सातवें गुणस्थान मे देवायु का बन्ध होता है इसके आगे के गुणस्थानो मे आयु कम का बन्ध नही होता। यदि कोई अवद्धायुष्क मनुष्य उपशम श्रेणी माड कर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुचा है तो उसका वहा मरण नही होगा। वह पतन कर जब सातवें या उससे नीचे के गुणस्थानो मे आकर आयु बन्ध करेगा तभी उसका मरण होगा। जिस जीव ने देवायु को छोड अन्य आयु का बन्ध कर लिया है वह उस जीवन मे अणुव्रती और महाव्रती नही हो सकता। क्षपक श्रेणी माडने वाले मनुष्य के किसी आयु का बन्ध नही होता। उपशम श्रेणी मे उसी का मरण होता है जो देवायु का बन्ध कर श्रेणी माडता है।

ध्यान और गुणस्थान

प्रथम से लेकर पचम गुणस्थान तक तारतम्य लिये हुए रौद्र ध्यान हो सकता है। आर्तध्यान षष्ठ गुणस्थान तक हो सकता है परन्तु वहा निदान नाम का आर्तध्यान नही होता। धर्मध्यान चतुथ से लेकर सप्तम तक हो सकता है परन्तु गृहस्थ के सस्थान विचार धर्म ध्यान नही होता।* दोनों श्रेणिया मे शुक्लध्यान होता है। वीरसेन स्वामी के उल्लेखानुसार चतुथ से दशम गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है उसके आगे शुक्लध्यान।

गुणस्थान और मार्गणा

नरकगति, देवगति और भोग भूमि मे आदि के चार गुणस्थान हो सकते है। कर्मभूमिज तियच के आदिके पाच गुणस्थान हो सकते है और कर्मभूमिज मनुष्य के सभी गुणस्थान हो सकते हैं। एकेन्द्रियो मे अग्नि कायिक और वायु कायिक को छोडकर तीन स्थावरो तथा विकलत्रयो मे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थान हो सकते है परन्तु सासादन अपर्याप्तक अवस्था मे ही होता है। सासादन मे मृत जीव नरक नही जाता अत वहा अपर्याप्त अवस्था मे सासादन गुणस्थान नही होता। पचेन्द्रियो के सभी गुणस्थान हो सकते है। स्थावर काय में प्रारम्भ के २ और त्रसकाय मे सभी गुणस्थान सभव है। सयोग अवस्था मे प्रारम्भ के १३ और अयोग अवस्था मे चौदहवा गुणस्थान होता है। औदारिकमिश्रकाययोग मे प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और केवलिसमुद्घात की अपेक्षा त्रयोदश गुणस्थान होता है। औदारिक काययोग मे प्रथम से लेकर त्रयोदश तक गुणस्थान होते है। वैक्रियिकमिश्र काययोग मे प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थान तथा वक्रियिक काययोग मे प्रारम्भ के चार गुणस्थान हो सकते हैं। आहारक और आहारकमिश्र काययोग मे एक छठवा गुणस्थान ही होता है। कार्मण काययोग मे पहला दूसरा, चौथा और केवलि समुद्घात की अपेक्षा तेरहवागुणस्थान होता है। असत्य और उभय वचनयोग, तथा मनोयोग मे प्रारम्भ के बारह गुणस्थान सभव हैं। सत्यवचन और अनुभय वचनयोग तथा ये दोनो मनोयोग प्रारम्भ के तेरहवें गुणस्थान तक होते हैं। ध्यान रहे कि तेरहवें गुणस्थान मे मनोयोग उपचार से ही होता है।

* आ पूज्यपाद ने धर्मध्यान के सभी प्रकार गहस्थ मे भी स्वीकार किये है। स सि /६/३६/ ४५०/५ – सम्पदक

भाववेद की अपेक्षा तीनो वेदो में प्रारम्भ के ९ गुणस्थान होते है द्रव्यवेद की अपेक्षा द्रव्य स्त्री और द्रव्य नपुंसक के प्रारम्भ के पांच और द्रव्य पुरुष के सभी गुणस्थान होते है। कपाय की अपेक्षा, अनन्तानुवन्धी क्रोध मान माया लोभ द्वितीय गुणस्थान तक, अप्रत्याख्यानावरण चतुर्थ गुणस्थान, प्रत्याख्यानावरण पंचम गुणस्थान तक और संज्वलन दशम गुणस्थान तक रहती है। ज्ञान की अपेक्षा, मति, श्रुत और अवधि ज्ञान चतुर्थ से बारहवे तक, मन पर्यय ज्ञान छठवे से बारहवे तक तथा केवल ज्ञान १३ और चौदहवें गुणस्थान में रहता है। इसके आगे सिद्ध अवस्था मे रहता है। कुमति कुश्रुत और कुअवधि, प्रारम्भ के ३ गुणस्थानों मे होते है। सामायिक छेदोपस्थापना चारित्र छठवे से नोवे तक, परिहार विशुद्धि छठवे सातवे मे, सूक्ष्मसांपराय दसवें मे तथा यथाख्यात ग्यारहवे से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक होता है। देश सयम पचम गुणस्थान में और असयम प्रारम्भ के चार गुणस्थानो होता है। दर्शन की अपेक्षा चक्षुदर्शन पहले से बारहवे तक, अवधिदर्शन चतुर्थ से बारहवें तक तथा केवल दर्शन तेरहवे और चौदहवे गुणस्थान मे होता है। लेश्या की अपेक्षा कृष्ण, नील और कापोत लेश्या पहले से चतुर्थ तक, पीत, पद्म, शुक्ल पहले से सातवें तक और शुक्ल लेश्या पहले से तेरहवे गुणस्थान तक होती है। चौदहवे गुणस्थान में कोइ लेश्या नही होती। भव्यत्व की अपेक्षा भव्य के चौदह गुणस्थान होते है और अभव्य के सिर्फ पहला गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व की अपेक्षा प्रथमोपशम और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ से सप्तम गुणस्थान तक होते हैं, द्वितीयोपशम में चतुर्थ से ग्यारहवे तक और क्षायिक के चतुर्थ से चौदहवे तक गुणस्थान होते है। सम्यङ्‌मिथ्यात्व मे तृतीय, सासादन मे द्वितीय और मिथ्यात्व मे प्रथम गुणस्थान होता है। संज्ञी की अपेक्षा संज्ञी के प्रारम्भ से १२ और असज्ञी के प्रथम गुणस्थान होता है। तेरहवे चौदहवे गुणस्थान वाले संज्ञी असंज्ञी के व्यवहार से रहित होते है क्योंकि भाव मन बारहवे गुणस्थान तक ही होता है। आहारक की अपेक्षा आहारक जीव के प्रारम्भ के १३गुणस्थान और अनाहारक के पहला, दूसरा, चौथा, समुद्घात तक की अपेक्षा तेरहवां, तथा चौदहवां गुणस्थान होता है। सिद्ध भगवान के एक भी गुणस्थान नही होता क्योकि गुणस्थान का वर्णन ससारी जीव की अपेक्षा किया जाता है।

भाव और गुणस्थान

मिथ्या दृष्टि गुणस्थान में औदयिक, सासादन मे पारिणामिक, मिश्र मे क्षायोपशमिक और अविरत सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक–तीन भाव होते हैं। आगे देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्त विरत मे क्षायोपशमिक भाव होता है, उपशम श्रेणी में औपशमिक और क्षपक श्रेणी मे क्षायिक भाव होता है, तथा बारहवे आदि गुणस्थानो में क्षायिक भाव ही होता है। भावो का यह वर्णन दर्शनमोह और चारित्र मोह की अपेक्षा है, ज्ञानावरणादि अन्य कर्मो की अपेक्षा नही।

मरण और गुणस्थान

मिश्र गुणस्थान वाले, निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था को धारण करने वाले, मिश्र काययोगी, क्षपक श्रेणी चढ़ते हुए, अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग वाले, प्रथमोपशम सम्यक्त्व वाले, और सातवें नरक के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव मरण को प्राप्त नही होते। इनके सिवाय अनन्तानुवंधी का विसयोजन करके मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने वाला जीव अन्तर्मुहूर्त तक मरण को प्राप्त नही होता तथा दर्शन मोह की क्षपणा करने वाला जब तक अनन्तानुबन्धि का विसंयोजन कर तथा मिथ्यात्व व सम्यङ्‌मिथ्यात्व का सम्य-

क्त्व प्रकृति मे संक्रमण कर कृतकृत्य वेदक नही बनता तब तक मरण नही करता ।

कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि का काल अन्तर्मुहूर्त है उसके चार भाग मे से पहले भाग मे मरे हुए जीव देवो मे, दूसरे भाग मे मरे हुए देव और मनुष्यो मे, तीसरे भाग मे मरे हुए देव, मनुष्य और तिर्यचो और चतुर्थ भाग मे मरे हुए जीव चारो गतियो मे से किसी गति मे उत्पन्न होते हैं ।

गुणस्थानो मे चढने और उतरने का क्रम

इसका सामान्य वर्णन पहले किया जा चुका है। विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान भूमि का स्वरूप है। उसके सातिशय भेद मे यह जीव करणलब्धि के प्रभाव से सम्यक्त्व घातक प्रकृतियो का उपशम करता है तब चतुर्थ गुणस्थान मे जाता है, मिश्र प्रकृति का उदय आने पर तीसरे गुणस्थान मे गिरता है। अनन्तानुबंधी का उदय आने पर दूसरे गुणस्थान मे जाता है और मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आने पर प्रथम गुणस्थान मे पहुचता है। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने पर वेदक सम्यग्दृष्टि बनता है और उसके बाद अनन्तानुबंधी का विसयोजन और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियो का क्षय, अर्थात सातो प्रकृतियो का क्षय होने पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है। दर्शनादि प्रतिमा रूपी चारित्र न होने के कारण यह जीव चतुर्थ गुणस्थान मे रहता है तथा अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है पश्चात अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क का अनुदय होने से पचम और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का अनुदय होने से सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है। यहा से पतन कर छठवें गुणस्थान मे आता है और फिर नीचे के पाच गुणस्थानो मे से किसी भी गुणस्थान मे जा सकता है। सादि मिथ्यादृष्टि जीव तीसरे गुणस्थान मे भी पहुच सकता है। इस कथन से यह प्रतिफलित होता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला, सासादन और प्रमत्त विरत को छोडकर अप्रमत्त विरत पर्यन्त चार गुणस्थानो को प्राप्त होता है। दूसरे गुणस्थान वाला मिथ्यात्व को और मिश्र गुणस्थान वाला प्रथम और चतुर्थ दो गुणस्थानो को प्राप्त होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि तथा देश विरत दोनो प्रमत्त विरत को छोडकर अप्रमत्त विरत पर्यन्त पाचो गुणस्थानो मे जाते हैं। प्रमत्त विरत गुणस्थान वाला अप्रमत्त विरत पर्यन्त ६ गुणस्थानो मे जाता है और अप्रमत्त विरत गुणस्थान वाला छठवें गुणस्थान को तथा उपशम क्षपक अपूर्वकरण को और मरण की अपेक्षा देवगति सम्बन्धी अविरत सम्यग्दृष्टि—इस प्रकार तीन गुणस्थानो को प्राप्त होता है। अपूर्वकरणादि उपशम श्रेणी वाले जीव उपशम श्रेणी को क्रम से चढते है और क्रम से उतरते भी है। उपशम श्रेणी मे मरे हुए जीव नियम से देवगति मे उत्पन्न होते हैं और विग्रहगति मे ही चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त हो जाते है। इस तरह उपशम श्रेणी वाले के चढने की अपेक्षा अनन्तर ऊपर का और गिरने की अपेक्षा अनन्तर नीचे का और मरण की अपेक्षा चौथा ये तीन गुणस्थान होते है। उपशान्त कषाय के दसवा और चौथा ये दो ही गुणस्थान होते है। क्षपक श्रेणी वाला दसवें गुणस्थान से नियमपूर्वक बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है और वहा से क्रम से आगे के गुणस्थानो को प्राप्त होता हुआ मोक्ष को प्राप्त होता है।

इस प्रकार गुणस्थानो का सक्षिप्त वर्णन किया है। करणानुयोग के अभ्यासी पुरुष अथवा महिला को इतना ज्ञान तो होना ही चाहिये।



देव-पूजा

□ डा० गुलाबचन्द जैन
एम. ए. (हिन्दी, सस्कृत) पी एच. डी, जैन दर्शनाचार्य

पूजा प्रकरण में विशेषकर चार बातों पर विचार किया जाना आवश्यक है। 1–पूजा, 2–पुजापा (द्रव्य), 3–पूज्य और 4–पूजा का फल।

भारतीय धर्मो मे ऐसा कोई धर्म नही है जिसमे पूजा शब्द न आया हो। विधियां अनेक हो सकती है, पूज्य भी नाना हो सकते हैं, पूजा की सामग्री भी विभिन्न हो सकती है किन्तु पूजा के फल मे प्राय: सभी एकमत है। सभी पूजा से इष्ट की सिद्धि चाहते हे। सम्यग्दृष्टि का दृष्टिकोण सभी प्रकार के पूजको से निराला है। वह पूज्य से कुछ न चाहकर इसको भक्ति का एक अंग समझता है और वह पूज्य के गुणो में अनुराग होना मानता है। "गुणेष्वनुरागोभक्ति." अर्थात् देव शास्त्र गुरु के गुणों में अनुराग होना भक्ति है। सम्यग्दृष्टि होकर यदि देवशास्त्र गुरु के गुणों के प्रति बहुमान नही आया अर्थात् भक्ति के भाव नही हुए उसको अभी सम्यक्त्व हुआ ही नही ऐसा मानना चाहिये।

पूजा—

पूजा शब्द के अमर कोप में छ. पर्यायवाची गिनाये है—"पूजानमस्यापचिति. सपर्यार्चार्हणा: (समा:) अर्थात् पूजा, नमस्या, अपचिति, सपर्या, अर्चा और अर्हणा, ये छ: शब्द पूजा वाचक हैं।

गार्हस्थ्य धर्म मे श्रावक के छ: कर्म बतलाकर पूजा को प्रथम स्थान दिया है—

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय संयमस्तप:।
दानं चैव गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥

पूजा के अंग—

पूजा के पांच अंग है—

आह्वानन स्थापन चैव, सन्निधिकरणं तथा।
पूजाविसर्जनं चैव, पञ्चधा पूजनं मतम् ॥

1. आह्वानन करना—

पूजा के प्रारम्भ में पूज्य को बुलाना, आह्वानन कहलाता है। यथा—ॐ ह्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन् अत्त अवतर, अवतर (आह्वाननम्)

2. स्थापन करना—

बुलाये हुए पूज्य (देवादि) को बिठाना या ठहराना स्थापना कहलाता है। यथा—ॐ ह्रीं श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्ध परमेष्ठिन् ! अत्र तिष्ठ-तिष्ठ (स्थापनम्)।

3 सन्निधिकरण करना—

बुलाये हुए अथवा ठहराये हुए पूज्य (देवादि) को निकट लाना सन्निधिकरण कहलाता है। जैसे—ॐ 'ह्रीं' श्री सिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहितो भव भव।

4 पूजा करना—

पूजा के चार अग हैं—स्तोत्र पढना, (अर्चना करना, अघ पाद्य करना, जयमाला अर्थात् गुणानुवाद करना और आशीवचन कहना।

क–अर्चना या स्तोत्र पाठ करना—

नानापयोगविमल विशदात्मरूप,
सूक्ष्म स्वभाव-परम यदनन्त वीर्यम्।
कर्माघ कक्ष दहन सुख सस्य-बीजम्,
वन्दे सदा निरुपम वर सिद्ध चक्रम्॥
कर्माष्टक–विनिमुक्त मोक्ष लक्ष्मी–निकेतनम्।
सम्यक्त्वादि–गुणोपेत सिद्धचक्र नमाम्यहम्॥

अर्चना के पश्चात् पूजक अपने आराध्य को अर्घ समर्पित करता है—

ख–अर्घ देना—

गधाढ्य सुपया मधुव्रत गणैः सग वर चन्दनम्,
पुष्पौघ विमल सदक्षतक्षत-चय-रम्य चरु दीपकम्।
धूप गधयुत ददामि विविध श्रेष्ठ फल लब्धये,
सिद्धाना युगपत्क्रमाय विमल सन्नोत्तर वाञ्छितम्॥

ॐ ह्रीं सिद्धचक्राधिपतये सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घपद प्राप्तये अर्घ निर्वपामि।

अर्घ देने के पश्चात पूजक अपने पूज्य के गुणानुवाद करता है, इसी को जयमाला कहते हैं—

ग–"विवण विगन्ध विमान विलोभ,
विमाय विकाय विशब्द विशोभ।
अनाकुलकेवलसर्वविमोह प्रसीदविशुद्ध-
सुसिद्धसमूह॥

जयमाला के पश्चात् आशीवचन कहना पूजा का अन्तिम अग है। पूज्य की महानता मे पूजक स्वय ही आशीवचन कहता है—

घ–आशीवचन

असमसमयसार चारुचैतन्य चिह्न,
पर-परणति-मुक्त पद्मनन्दीन्द्र वन्द्यम्।
निखिलगुणनिकेत सिद्धचक्र विशुद्ध,
स्मरतिनमति यो वा स्तौतिसोऽभ्येति मुक्तिम्॥

5. विसर्जन—

पूजा के मूलभूत पाच अगों में अन्तिम विसर्जन को आचार्य ने निम्न प्रकार बताया है—

"आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथा क्रमम।
ते मयाभ्यर्चिताभक्त्या सर्वेयान्तु यथास्थितिम्॥

इस प्रकार पूजक अपने पूजानुष्ठान को विसर्जित करता है।

पूजा के प्रकार—

साधारणतया पूजा के दो प्रकार माने जाते हैं—1–द्रव्य पूजा 2–भाव पूजा। द्रव्य पूजा द्रव्यों के आलम्बन से की जाती है और भाव पूजा मात्र अपने भावो के सहारे से ही की जाती है। जैनेतर अपने आराध्य को अपने इच्छित द्रव्यो से पूजते हैं किन्तु जैन परम्परा मे जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्यों से ही पूजते हैं? इन द्रव्यो के सहारे से की जाने वाली पूजा द्रव्य पूजा कहलाती है। विवेकशी जन प्रासुक द्रव्य ही से पूजा करते हैं, वे ध्यान रखते हैं कि जहाँ तक हो सके कम से कम आरम्भ हो और हिंसादि पाप न हो। किन्तु जिनमे विवेक की मात्रा कम है वे द्रव्य की शुद्धि, उसकी प्रासुकता का ध्यान न रखकर अप्रासुक द्रव्य काम मे लेते हैं, हिंसादि पापो का भी उनको ध्यान नहीं रहता। वे मात्र प्रदर्शन को ही पूजा का ठाठ मानते हैं। यह ठीक नहीं है। ऐसा करने से बजाय पुण्यार्जन के पापार्जन होने की अधिक सम्भावना रहती है चाहे द्रव्य कम हो किन्तु प्रासुक और अनवद्य होना चाहिये।

भाव पूजा–

भाव पूजा में पूजक मात्र अपने भावो के सहारे ही अपने आराध्यदेव की पूजा करता है वह कहता है–

"निजमनोमणि भाजन भारया,
समरसैक सुधारस धारया ।
सकलबोधकलारमणीयकं,
सहजसिद्धमहं परिपूजये ।।"

2. पुजापा–

पुजापा अथवा पूजा द्रव्य के सम्बन्ध मे ऊपर विचार किया जा चुका है। यहां इतना विशेष ज्ञातव्य है कि पूजक सांसारिक वस्तुओ के लिये पूजा न कर तथा स्वर्गादि गतियों के लिये पूजा न कर अपवर्ग के लिये ही पूजा करे। यद्यपि पूजा का फल सांसारिक संयोग और स्वर्गादि उत्तम गति है, किन्तु सम्यग्दृष्टि पूजक के भाव कुछ मांगने के नही होते, उसे तो उनके गुणों में अनुराग होने से भक्ति करता है, कुछ पाने के भावों को लेकर पूजा नही करता उसके भाव इस प्रकार बनते है–

1. मैं जन्म जरा मृत्यु के विनाश हेतु जल चढ़ाता हूँ।

2. संसार ताप को दूर करने हेतु चन्दन चढ़ाता हूँ।

3. अक्षय पद की प्राप्ति हेतु अक्षत चढ़ाता हूँ।

4. काम बाण के विध्वंश हेतु पुष्प चढ़ाता हूँ।

5. क्षुधा रोग के नाश करने के लिये नैवेद्य चढ़ाता हूँ।

6. मोहान्धकार के नाश हेतु दीपक चढ़ाता हूँ।

7. अष्टकर्म के क्षय करने हेतु धूप चढाता हूँ।

8. मोक्षफल की प्राप्ति हेतु फल चढ़ाता हूँ।

इसके अतिरिक्त अर्घ चढाने के लिये भी उसकी भावना अनर्घ पद की प्राप्ति ही रहती है।

3. पूज्य–

जिसकी पूजा की जाती है वह पूज्य होता है। इनमे सच्चा देव, सच्चा शास्त्र और सच्चा गुरु ही पूज्य के स्थान कहे गये है। इसके साथ देव के गुणों की, जिनवाणी की तथा गुरु और गुरु के गुणों की पूजा ही करणीय है, अन्य की नही क्योंकि वीतरागी देव को छोडकर सरागी देव पूज्य नही होते। वीतराग की वाणी ही वीतरागता की पोषक होती है अतः वह ही पूज्य है। राग-द्वेष से रहित नग्न दिगम्बर भाव लिंगी सन्त ही पूजा के योग्य है। कुदेव, कुशास्त्र और कुधर्म कदापि पूज्य नही होते।

4. पूजा का फल–

भगवान की पूजा का फल अचिंत्य है। इसी से मुक्ति और भुक्ति दोनो की प्राप्ति के साधन मिलते है। स्वामी समन्त भद्र ने पूजा का फल बताते हुए लिखा है–

"अर्हच्चरणसपर्या महानुभाव महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ।।

(रत्न करण श्रावकाचार)

महावीर का दर्शन बनाम मानसिक प्रदूषण

□ डा० राजेन्द्र कुमार बंसल

प्रियता-अप्रियता राग द्वेष, स्नेह घृणा, अहंकार-ममकार, क्रोध-माया आदि के मनोविकारों मे आत्मा अनादिकाल से झुलस रहा है, तड़प रहा है। इन मनोविकारों की अबाधित स्मृति के कारण आत्मा का आनन्द एव शांत स्वभाव प्रकट नहीं हो रहा है और व्यक्ति दुःख की भवर में फंसा हुआ है।

आत्मा, आनन्द का कन्द, चैतन्य का पिण्ड एव ज्ञान, गुण आदि अनन्त गुणों का भण्डार है किन्तु मनोविकारो के सतत् प्रवाह के कारण उसके यह ईश्वरीय गुण अप्रकट है और वह अज्ञानता के कारण अपने स्वरूप से भिन्न मोह ममकार में लिप्त एव पर वस्तुओं मे आनन्द की खोज कर रहा है। आनन्द की खोज की दौड़ में वह अहिर्निश मग्न है किन्तु उसे आनन्द नही मिलता। कारण बहुत स्पष्ट है आनन्द चैतन्य का गुण है वह जड़ वस्तुओं मे कैसे पाया जा सकता है। उसकी खोज यदि चैतन्य के अलावा कहीं और होगी तो वह कैसे मिलेगा विचारणीय है। आनन्द की खोज में हमने तरह-तरह के विकल्पो, वाक्-जालो एवं अनुकूल प्रतिकूल साधनो का प्रयोग किया किन्तु जो खोजा जा रहा था वह हमसे दूर होता चला गया और हम अतृप्त के अतृप्त रहे।

प्रकृति की शाश्वत सत्ता से परे आखिर किसी वस्तु का अस्तित्व हो भी कैसे सकता है ? जो जहा है ही नहीं वह वहा मिल ही कैसे सकता है ?

हमने प्रकृति के प्रदूषण की चर्चा की, उस पर बहस की और उससे बचने के प्रयास किये किन्तु मन के अन्दर उठने वाले प्रिय-अप्रिय के विकल्पों के मानसिक प्रदूषण की ओर हमारा ध्यान नहीं गया। जब मन प्रदूषित होता है तो अन्ततः उससे पर्यावरण भी प्रदूषित होता है और जब मन शुद्ध होता है तभी उसकी अतीन्द्रिय शक्ति से पर्यावरण भी शुद्ध होता चला जाता है। असमय जलवृष्टि, अतिवृष्टि, अनावृष्टि ओलावृष्टि, अनिउष्णता, आदि असामयिक मौसमी परिवर्तन हमारी मनोवृत्ति के प्रतिबिम्ब है और अदृश्य रूप से हमारे प्रदूषित मन की निष्पत्ति है।

समय-समय पर इस वसुन्धरा पर अनेक दिव्य आत्मायें आयी और उन्होंने अपने समय एव सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ मे मन को प्रदूषण से बचाकर उसे शुद्ध-बुद्ध एव मुक्त करने हेतु निदान बताये। शाश्वत प्रकृति के धारावाही प्रवाह मे श्रमण-संस्कृति के अन्तिम तीर्थंकर, आत्मविजेता, भगवान महावीर ने लगभग 2550 वर्ष पूर्व धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हुये कहा कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है, परिपूर्ण है, अपराजेय है, आनन्दमय है, ज्ञान आदि गुणो मे

परिपूर्ण है किन्तु मोहजन्य अज्ञानता में वह अपने को भूला हुआ है जिससे मन के प्रदूषण अर्थात मनोभावो से वह पल-प्रति-पल अपने स्वभाव से दूर होता चला जा रहा है और राग-द्वेष, अहकार-ममकार आदि विभाव परिणतिया (जो उसका स्वभाव नही है) मे मग्न हो रहा है। जो मात्र ज्ञाता-दृष्टा था वह जगत का कर्ता-हर्ता बनकर दुःखी बना है।

महावीर ने कहा कि सर्वप्रथम हम आत्मा के स्वभाव को समझे और उस पर आस्था रखते हुये स्वाध्याय ध्यान सयम, समत्व आदि द्वारा मनो-विकारों से मुक्त होने का प्रयास करे और पूर्वकृत विकृतियो को क्षय करते हुये अपने ज्ञान एवं आनंद स्वरूप मे मग्न रहे क्योंकि आत्मा का स्वभाव अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव मे रहना है अन्य पदार्थो या विश्व व्यवस्था में हस्तक्षेप करना नही।

आत्म विकास की प्रक्रिया में आत्मा क्रमश: निर्मल होती जावेगी और एक ऐसा समय भी आवेगा जब हम विभाव विकृतियों एवं मानसिक प्रदूषण से मुक्त हो सकेंगे। यह वह क्षण होगा जब विकार-वर्जना से रहित अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति हमे स्वयं होगी और ऐसी स्थिति मे वीतरागता की अनुपम निर्झरिणी बहेगी जिसके करुणा मिश्रित शीतल जल से सृष्टि के जीव भी सुख एवं आनन्द का अनुभव कर सकेंगे।

वीतरागता का यह मार्ग बाह्य रूप से दुष्कर, दुरुह एवं कष्ट साध्य प्रतीत होता है किन्तु जब हम समत्व भाव से मन की गहराई में उतर कर गंभीर चिंतन करते है तब यह मार्ग ज्ञानी साधक के लिये अत्यन्त सहज, स्वावलम्बी, स्वाश्रित अनुभूत होता है। आत्मा स्वय मे षट्कारको से संयुक्त स्वयभू है। इस दृष्टि से व्यक्ति को अपने विकास, परिष्कार एव सिद्धि के लिये किसी अन्य की सहायता या अपेक्षा नही है। पर वस्तु या व्यवस्था मे हेरफेर करने पर व्यक्ति को बहुत से प्रयास एवं संयोग जुटाने पडते है किन्तु स्वभाव मे रमने, जमने में तो कुछ भी नही करना होता। यही कारण है कि महावीर का धर्म जीवन की सहज चर्या है एवं स्वभाव में लौटने की क्रिया है जो हर क्षण सवेदन योग्य है। इस दृष्टि से धार्मिकता की प्रथम शर्त रुचिपूर्वक अपने को जानने, समझने एव उसमे रमने की है।

भगवान महावीर द्वारा उद्घोषित धर्म का मार्ग अमूर्त अधिक, मूर्तमान कम है। बाह्य नेत्रो से वह दिखायी देता है। उसको जानने, समझने के लिये अंतर्चक्षुओ की आवश्यकता है। मन की विविध-विचित्र परिणतियों की समझ बाह्य नेत्रो से नही किन्तु अंतर्चक्षु से ही हो सकती है।

धर्म के नाम पर आज हमने अनेको दीवारे खडी कर दी है। मनुष्यों एवं मनुष्यो के बीच मे इन दीवारो मे आत्मत्व एव मनुजता के सामान्य आदर्श एवं व्यवहार भी लुप्त हो गये है। अन्याय अनाचार एव अनीति से धन-अर्जन करने एव अनैतिक अपराध के लिये दण्डित व्यक्ति अपने को धार्मिक घोषित करते हुये समाज का पथ प्रदर्शन करते दिखते है तब हैरत होती है। इसी प्रकार वस्त्राभूषणो के त्यागी नग्नवेशी साधु जब आत्मा एव उसकी शुद्धता के साधनों की चर्चा करते समय आक्रोश युक्त हो जाते है और यद्वा-तद्वा तर्को से उसकी प्राप्ति की असमर्थता व्यक्त करते है तब उनके साधुत्व के प्रति असमजस होता है।

जगत का यह सामान्य नियम है कि जो जिस वेश या पद पर होता है उसे उस वेश एवं पद के अनुरूप आचार एव विचार करना चाहिये। जब साधको के आचार-विचार उनके पद एवं मर्यादा के अनुकूल नही होते तब कैसा श्रावकत्व और कैसा श्रमणत्व। क्या कही बबूल के पेड़ से आम फल पैदा होने की कल्पना की जा सकती है। जिन

प्रकार सारभूत आत्मा के अभाव मे देह मूल्यहीन एव निरर्थक होती है उसी प्रकार भावनाओ के अभाव मे शरीर की बाह्य क्रियायें भी लक्ष्य की दृष्टि से फलहीन एव निरर्थक हो जाती है।

आनद प्राप्ति के लक्ष्य के परिप्रेक्ष्य मे यह जरूरी हो गया है कि महावीर के दर्शन के अनुसार हम सहज, अत्यत सहज जीवन जीने का प्रयास करें और पद की मर्यादा के अनुकूल अपने आचार-विचार को सहज, सरल, करुणावान, परस्पर सहयोगी एव विकारोन्मुखी बनायें। धर्म को जीवन का अग बनाकर उसे हर श्वास मे जियें और दूसरो को भी अहसास होने दें कि हम सच्चे धार्मिक हैं। हमारा जीवन, हमारे कार्यकलाप सभी कुछ सापेक्ष रूप से नीतिमय धर्ममय एव करुणामय हो और हमारे प्रत्येक निर्णय विवेक एव कर्तव्य की कसौटी पर खरे उतरें तभी यह विचार एव मथन सार्थक होगा कि हम धार्मिक है और हम अपनी आत्मा के प्रति करुणावान होकर जगत के प्रति भी करुणावन्त हैं। ★

ओरियन्ट पेपर मिल्स,
अमलाई

दीव्यन्नाभिरय ज्ञानी भावनाभिर्निरन्तरम ।
इहैवाप्नोत्यनातङ्क सुखमत्यक्षमक्षयम् ।।
ज्ञानार्णव पृ 59

इन (बारह) भावनाओ से निरन्तर रमते हुए ज्ञानी जन इसी लोक मे रोगादि की बाधा रहित अतीन्द्रिय अविनाशी सुख को पाते हैं।

त्रिवर्ग तत्र सापाय जन्मजातङ्क दूषितम् ।
ज्ञात्वा तत्त्वविद साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ।।
ज्ञानार्णव पृ 61

धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ नाश सहित और ससार के रोगो से दूषित हैं। ऐसा जान कर तत्त्व ज्ञानी पुरुष मोक्ष के साधन करने मे ही यत्न करते है।

अन्तर्यात्रा

विनयचन्द पापडीवाल,
जयपुर

जैन आगम में तीन प्रकार की आत्मा का विवेचन मिलता है। वहिरात्मा, अन्तर्आत्मा और और परमात्मा। अन्य मतो मे तो इश्वर को कर्त्ता मानते है तथा प्राणी मात्र को कर्म का भोक्ता। जिन शासन ही एक मात्र प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की शक्ति होने की बात करता है। यदि ससारी आत्मा शुद्ध हो जावे तो वह परमात्मा बन सकती है। दीनता, हीनता और कायरता को जिन शासन में कोई स्थान नहीं है। सभी जीव शक्ति रूप से सिद्ध के समान है जो इस शक्ति को पहिचानेगा वह सिद्ध हो जावेगा।

सर्वप्रथम प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मा कहते किसे है ? तो उत्तर है चेतना लक्षण जिसमे पाया जावे वह आत्मा है। छः द्रव्यों के समूह का नाम लोक है और इन छै द्रव्यो मे जिसमें चेतना याने जानने देखने की शक्ति पाई जावे उसे आत्मा कहते है। जीव और पुद्गल दो में स्वाभाविक व वैभाविक शक्ति पाई जाती है। दोनो ही द्रव्य जब स्वभाविक रूप परिणमन करते है तो शुद्ध कहलाते है, जब विभाव रूप परिणमन करते है तो अशुद्ध कहलाते है। शेष द्रव्य धर्म अधर्म आकाश काल तो अनादि अनन्त शुद्ध ही है, उनमें तो अशुद्धता होती ही नही है। अजीव में चूंकि चेतना नही है अत सुख दुख वेदन करने की शक्ति भी नही है। जीव ही सुखी दुखी होता है अतः यहां उसी की चर्चा आपेक्षित है।

जब यह जीव क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुसा, स्त्रीवेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद रूप परिणमता है तो वहिरात्मा हो जाता है। प्रथम तीन गुण स्थानों मे परिणत जीव वहिरात्मा कहलाता है। यह आत्मा निगोद से लेकर चारो गतिया व चोरासी लाख योनियो मे परिभ्रमण करता रहता है। यहा तक कि एक स्वांस में अठारह दफा जनम मरण करता हुआ अनन्त दुखी रहता है। अपने को भूलकर पर पदार्थो में अपनापन मान कर इष्टि अनिष्ट कल्पना करता है। कभी अपने आप को रक मानता है कभी राव, कभी दुखी मानता है कभी सुखी। अनादि काल से यही संसरण की दशा चली आ रही है और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

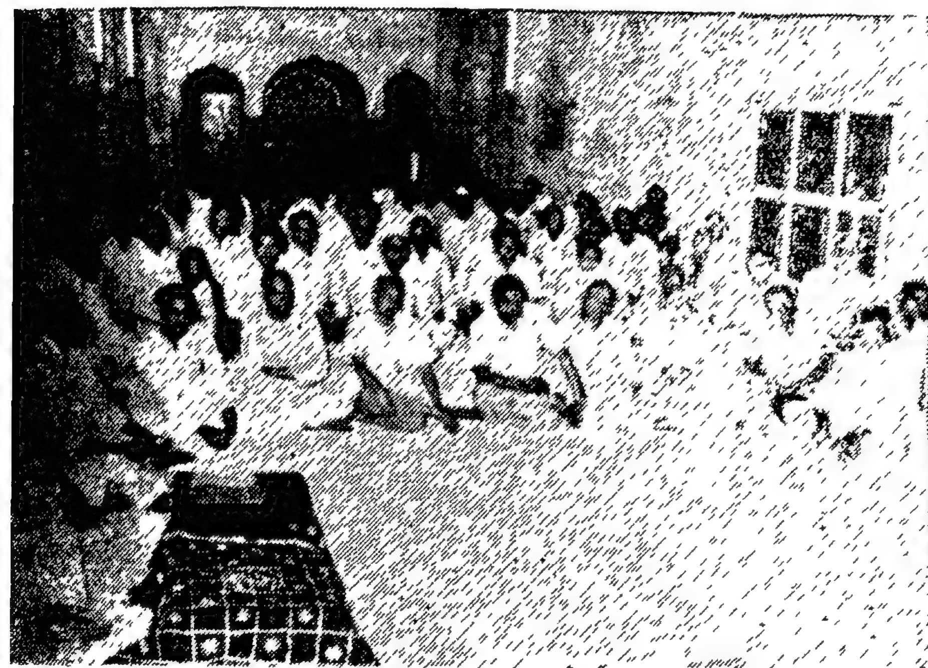
संसार के सभी जीव सुख चाहते है दुख से भयभीत है। जब यह जीव द्रव्यश्रुत से अपने स्वभाव को जानता है तो उसी प्रकार मान कर तदनुरूप आचरण करता है, उसकी श्रद्धा मे परिवर्तन होना है. विभावो से दूर भागना चाहता है,

स्वभाव मे रमना चाहता है, वही से उसे सुख की अनुभूति होती है। ससार के भोगो को क्षणिक जान कर उनको हेय मानता है, असार जान कर छोडना चाहता है-"जब आतम अनुभव आवे तब और कुछ न सुहाये।" राग के स्थान पर आंशिक वीतरागता प्रकट होती है। चौथे गुणस्थान पर से बारहवें गुणस्थान तक वीतरागता मे उत्तरोत्त वृद्धि होती जाती है। जितनी वीतरागता बढती है उतना ही अतीइन्द्रिय आनन्द भी बढता जाता है बस यही से अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है। यह अन्तर्यात्रा ही सुख का धाम है। आनन्द का केन्द्र है। यही से धर्म की शुरुआत होती है।

धर्म वह है जो दुखो से छुडावे तथा उत्तम सुख की प्राप्ति करावे। यह धर्म ही कर्मो का विध्वंस करने वाला है, यह धर्म ही चतुगति के दुखो मे रक्षा करता है तथा निज शुद्ध आत्मा का वेदन कराता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र की शुरुआत ही धर्म की शुरुआत है तथा पूर्णता ही मोक्ष है। सादि अनन्त सुख का नाम ही मोक्ष है। बस यही से कारण परमात्मापना प्रकट होता है तथा चारित्र की पूर्णता होते ही कार्य परमात्मा प्रकट हो जाता है। अन्तर्यात्रा चालू होते ही यह आत्मा परमात्मा स्वरूप होने लगता है, देह देवालय मे रहते हुए भी अपने को देह से भिन्न अनुभव करता है। औदायिक आदि भावों से भिन्न पारणामिक भाव रूप अपने को अनुभव करता है। अबतक वीर्य जो परान्मुखी हो रहा था अब स्वभावोन्मुखी हो जाता है। उपयोग की चचलता का नाम ज्ञान और उपयोग की स्थिरता का नाम ध्यान है। इसी ध्यान से कर्मों का क्षय होता है। उपयोग की स्थिरता के लिए देव पूजा, गुरुपास्ती, स्वाध्याय, दान, तप इत्यादि जरूरी है बारह भावनाओ का चिन्तन भी उपयोग को निर्मल करता है। आज्ञा विचय, विपाक विचय, अपाय विचय, सस्थान विचय रूप धर्म ध्यान भी उपयोग की स्थिरता के लिए ही होता है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ रूपातीत ध्यान भी उपयोग को सूक्ष्म करता है। पार्थिवी, आग्नेय पवन व जलधारणाओं की अन्तर्यात्रा मे उपयोगिता है। यह अन्तर्यात्रा चतुर्थ गुणस्थान से चालू होती है और बारहवें गुणस्थान के अन्त मे पूर्ण होती है। जिस प्रकार बहिरात्मा का फल ससार है उसी प्रकार अतर आत्मा का फल परमात्मा है। अन्तर्यात्रा के लिए क्रोध, मान, माया लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद पुरुष वेद, नपुसक वेद इत्यादि भुलाने पडेगा, स्वभाव को जानना पडेगा। आत्मानुभव के लिए सविकल्प नही निर्विकल्प होना पडेगा। विकल्प मात्र पर द्रव्य का चिन्तन है। अब चिन्तन की नही अनुभव की आवश्यकता है। विकल्प को सूक्ष्म करने के लिए प्रारम्भ मे देव, शास्त्र, गुरु के आलम्बन की आवश्यकता है। इसी 'आलम्बन से निरालम्बन मे पहुचा जाता है। पच्चीस दफा द्रव्य श्रुत रूप समय सार पढने पर भी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ नही होगी किन्तु एक दफा भी इस द्रव्यश्रुत को भावश्रुत बनालिया तो अन्तर्यात्रा प्रारम्भ हो जावेगी।

आत्मा द्वारा आत्मा अनुभव करना ही अन्तर्यात्रा का प्रयोजन है। इस प्रयोजन की सिद्धी होना ही परमात्मा बनना है। आत्मानुभव से ही अरहत और सिद्ध पना प्रकट होता है। चार घातिया कर्मों का नाश होते ही अरहत अवस्था प्रकट हो जाती है तथा आठो कर्मों के नाश होते ही सिद्ध अवस्था प्रकट हो जाती है। आओ हम सब मिलकर इस अन्तर्यात्रा मे शामिल हो जावे इसी मे जीवन की सार्थकता है। बहिरात्मा नही अन्तर आत्मा बनकर परमात्मा बनना ही जीवन का पावन ध्येय है।

———





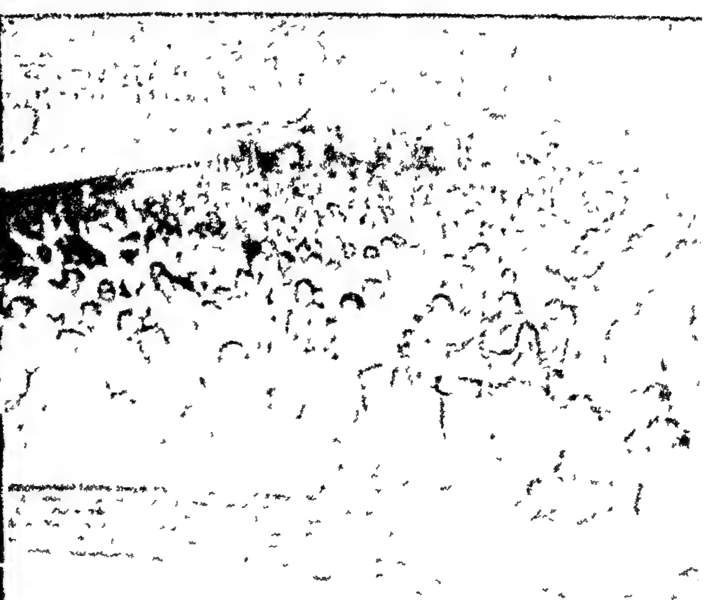
भक्ति गायन प्रस्तुत करते हुए श्री विमल पाटनी, विधायिका कु. पुष्पा जैन एवं भाव विभोर जन समुदा





विचार गोष्ठी में महाधिवक्ता श्री नाथूलाल जैन विचार प्रगट करते हुए एवं उपस्थित श्रोतागण





... श्री चन्दनमल बैद साथ में बैठे हैं कविगण एवं



महावीर जयन्ती समारोह के मंच का एक दृश्य

समारोह मे विचार प्रगट करते हुए लोकायुक्त श्री मोहनलाल श्रीमाल एव न्यायाधिपति श्री मिलापचन्द जैन



महावीर जयन्ती समारोह के अवसर पर रक्तदान शिविर में रक्तदान करती हुई श्रीमती राज काला

महावीर जयन्ती समारोह 86 के अन्तर्गत आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता का दृश्य

प्रभात फेरी का एक चित्र



महावीर जयन्ती पर निकाले गये जुलूस का एक दृश्य





←

समारोह के अध्यक्ष
न्यायाधिपति श्री मिलापचन्द जैन
का स्वागत करते हुए
श्री राजकुमार काला

समारोह के दिन झण्डारोहण करते हुए
न्यायाधिपति श्री मिलापचन्द जैन
पास में अध्यक्ष श्री राजकुमार काला
व श्री उत्तमचन्द बढेर संयोजक जुलूस
↓



महावीर जयन्ती स्मारिका की प्रति
लोकायुक्त श्री मोहनलाल श्रीमाल को
भेंट करते हुए प्रधान सम्पादक
श्री ज्ञानचन्द बिल्टीवाला



युवा-शक्ति ही जीवन्त है, वर्तमान है

□ श्री प्रवीण चन्द्र छाबड़ा

सब तरफ से आज एक ही शोर है—संस्कृति; धर्म और परम्परा पर संकट है, जो अत्यन्त विकट होकर है। युवकों मे आस्था नही रह गयी है, वह दिशा भ्रमित है। मन्दिरों की दुर्दशा है, पूजा व प्रक्षाल तक नहीं होती है। अनुशासन नहीं है, आदर-भाव भी नही है। संस्थाओं को संभालने के लिये नयी पीढ़ी आगे नहीं आ रही है। विवाह-शादियों में वैभव का वेहूदा प्रदर्शन, अभद्र नृत्य व गायन होते है, दहेज की माँग बढ़ती जाती है। इन प्रश्नों का घेरा इतना व्यापक है कि प्रश्न केवल प्रश्न हुए रहते हैं। शोर बन कर कोलाहल हुए जाते है। कोलाहल कभी निर्णय के लिये नही होता, इसलिए प्रश्नों का उत्तर मिलता नही है। केवल वहस और अपनी गाथाएं कह-सुन कर इति कर ली जाती है। कभी-कभी चाय के प्याले में तूफान की तरह नपुंसक का गुस्सा हुआ रहता है, जो उठने के साथ ही समाप्त भी हो जाता है।

हमारे सारे प्रश्न चर्चा के लिए होते हैं। अपने अवकाश के समय को व्यतीत करने अथवा वार्ता के लिए सन्दर्भ बनाये रखने को होते हैं। प्रश्नों के प्रति कोई व्यक्ति, संस्था अथवा नेतृत्व गम्भीर नहीं है। इसके लिए कोई चिन्तन अथवा दिशा वोध भी नही है। महावीर, बुद्ध या गाधी की दृष्टि को समझने की तैयारी नही है। 1947 से पूर्व स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ सामाजिक परिवर्तन की आवाज भी यदा-कदा उठती रही है। जो लोग आजादी के आन्दोलन मे सीधे भागीदार नही हो पाते थे, वे अपनी शक्ति समाज को उठाने बदलने और राष्ट्र की मूल धारा के साथ जोड़ने में लगाये रहते थे। उस युग में जातीय संगठन प्रभावशील भी थे। पुराण पंथियों का धार्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्चस्व था। फिर भी सुधारवादी मोर्चा लिए रहते थे।

तव, सब प्रश्नों का एक ही उत्तर था—"भारत की स्वतन्त्रता सर्वोपरि है। देश के स्वतन्त्र होने पर हमारा संविधान होगा, कानून होगा, जो एक ही समय में इन सब बुराइयों को दूर कर देगा।" यह भी माना जाता रहा कि समाज में व्यापक सुधार कानून द्वारा ही संभव है। देश की आजादी के वाद नेताओं ने सामाजिक स्थितियों पर ध्यान भी दिया। हिन्दू कोड विल इसी दिशा मे क्रान्तिकारी कदम था। लेकिन, उसका जिस तरह व्यापक विरोध हुआ, उसके वाद सुधार की धारा पर रोक ही लग गयी। राज नेताओं ने समाज-व्यवस्था के वारे मे मौन साध लिया। वे यथा-स्थितिवादी वन गये। चुनाव जीतने के लिए समझौता परक हो गये। समाज-सुधार का काम दूसरे दर्जे का हो गया। राजनीति मे होने से जहां सत्ता का प्रत्यक्ष लाभ मिलने लगा, वहां समाज सुधार का काम तिरस्कार, भर्त्सना तथा वैर-विरोध लेने वाला वन गया। व्यक्ति भी इतना स्वच्छन्द हो गया कि उसे वाधे रहने वाली कोई शक्ति नहीं रह गयी।

स्वतन्त्र भारत में सब प्रश्नों और समस्याओं के लिए परमुखापेक्षी होते चले गये। जो होना है

वह नेताओ को करना है, यह भावना इतनी बलवती होती गयी कि परायी दासता से मुक्त होकर भी निजाधार को मजबूत नही कर सके। राज नेताओ ने भी इस स्थिति को अनुकूल माना और चेतना के सस्कार व्यापक होने की जगह सिमटते चले गये। भारत मे ही हिन्दी, धर्म और सस्कृति पिछड़े युग की वस्तु करार दी जाने लगी। हर समाज और उसका नेतृत्व पगु होकर उसी तरह 'हा' करने लगा, जैसे ब्रिटिश शासन के लिए किये रहता था। युवको के लिए 'धर्म' शब्द ही पाखण्ड, आडम्बर, कर्म काण्ड और पिछड़ेपन का पर्याय बना दिया गया। समाज मे प्रचलित विकृतियो के विरुद्ध आन्दोलित होना ही बन्द हो गया।

सुनता रहा हू कि जैन समाज मे सात-आठ दशक पूर्व मृत्यु-भोज को लेकर युवको ने धरने दिए। भोज मे जाने वाली महिलाए -तक उन्हे कोसती जाती। उनके विरोध को धर्म विरुद्ध करार दिया गया। उन पर झूठी पत्तले व दोनें फेंके गये। कही-कही भर्त्सना की गयी, पीटने की धमकिया दी गयी। इन सबके बावजूद वे लोग अडिग रहे। समाज मे से मृत्यु भोज उठा दिया गया। एक शताब्दी पूर्व तब के युवकों ने महसूस किया कि धर्म और सस्कृति की रक्षा सस्कृत के शिक्षण से ही सभव है और उन्होंने सस्कृत विद्यालय की स्थापना की। इन्ही युवको ने नारी शिक्षण के महत्त्व को समझा और बालिकाओ के लिये विद्यालय कायम किये। समाज मे व्याप्त अन्य कुरूतियो को जहा मिटाया, वहा विवाह तथा अन्य अवसरो पर दिये जाने वाले उपहार-दहेज आदि का परिमाण निश्चित किया, जिससे समूचा समाज पाबन्द रहा। वर्षों पूर्व ऐसा एक प्रयास राजस्थान जैन सभा ने भी किया जिसका समाज मे पालन भी होने लगा। लेकिन, समय के साथ शिथिलता आयी और वह आज मात्र चर्चा का विषय होकर रह गया। विगत पचास वर्षों मे जैन समाज मे छोटा या बडा आन्दोलन नही हुआ। 1930 के आस-पास अन्तिम निर्णायक सघर्ष हुआ, जिसमे सुधारवादी लोगो ने अपना वर्चस्व सिद्ध किया।

तब और अब मे मौलिक अन्तर आया है। पचास वर्ष पूर्व समाज राष्ट्रीय चेतना से भी जुडे हुए था। गाधी जी तथा अन्य नेताओ का प्रभाव व्यापक था। खादी तथा रचनात्मक कामो से जुडे लोग समाज मे सम्मानित थे। राजकीय सेवा अथवा व्यवसाय मे लगे लोग भी अपनी क्षमता के अनुसार उन्हें सहायता किये रहते थे, उनके चिन्तन और कार्य प्रणाली को मान्यता दिये रहते थे। आज की अधेड पीढी, तब सक्रिय तो नही हो पा रही थी, लेकिन स्वयम् सेवक के रूप मे सहयोगी अवश्य थी। उसे सीधे तौर पर सघर्ष नहीं करना पडा और जो किया, वह गणना योग्य नहीं रहा। नयी पीढी आजाद भारत की पैदाइश है, जिसने नेताओ को सत्ता के लिए भागते हुए और उसे पाने मे ही सारी शक्ति लगाते हुए देखा है। धर्म, सस्कृति और समाज के प्रति जवाबदारी उसे सिखायी नही गयी। उसने इस दिशा मे किसी को सक्रिय होते हुए भी नही देखा है।

आज की पीढी बौद्धिक रूप से विकसित है। गाधीजी की साधना और उनके मूल्य जीवन को कहीं प्रभावित कर नहीं रहे हैं। रचनात्मक कार्यक्रमों में लगे लोगो मे भी वह पद लिप्सा, स्वार्थ परायणता और अधिक प्राप्ति के लिए दौड और होड लगी देखती है। वह इन उलझनो से परे होकर अपने तरीके का निर्माण चाहती है। उसका कार्य क्षेत्र भी विस्तृत है। आज दुनिया छोटी होकर सिमट गयी है। विज्ञान ने उसे इतनी सुविधा दे दी है कि वह दुनिया को सैर के लिए हुए रहती है। उसके लिए मद्रास बम्बई व कलकत्ता ही नही न्यूयार्क टोकियो पेरिस व लन्दन व्यापार के केन्द्र होकर हैं। उसकी मित्र मण्डली

में सभी वर्ग-वर्ण और श्रेणी के लोग है। उनका आहार-विहार आचार-विचार भी एक जैसे होते जा रहे है। समाज की सीमा मे बन्दकर वह अपने को छोटा बनाने को तैयार नहीं है। आज सामाजिक व्यवस्थाओं के प्रति उसकी सवेदन शीलता भी नही रह गयी है। समाज के लिए सक्रिय होना अपने व्यक्तित्व और कृतित्व को छोटा करना है। वह समझती है कि सामाजिक संस्थाओं के लिए होना अपने लिये विरोध खड़ा करना है।

युवक धार्मिक वृत्ति का हो, उनमें संस्कार, आचार विचार, आहार-विहार और व्यवहार शुद्ध हो, धर्ममय हो, यह शुभ आकांक्षा है। पर, इस चाहना के साथ गभीरता और उस दिशा मे प्रवृत्त होने की तैयारी लेश-मात्र भी नही है। हर घर मे प्रातः कालीन शैय्या-चाय अनिवार्यता बन गयी है। देव-दर्शन से अवकाश का यह भी कारण है। रात्रि-भोजन का प्रारम्भ चार-दशक पूर्व का है, जो अब सामान्य होता जा रहा है। दहेज के लिए सौदे, प्रदर्शन आदि सब हम कर रहे है, अधेड़ आयु वर्ग के लोग कर रहे है। नयी पीढ़ी इसे देख रही है, सीख रही है। आज अधिकांश उच्च वर्गीय घर क्लब बनते जा रहे है, जहा खुली जुआं, राग-रंग और मादक द्रव्यो का सेवन होता है। समाज मे इन्ही लोगों का वर्चस्व है, सम्मान है। व्यवसाय, धार्मिक और शिक्षण संस्थाओ पर इनका ही आधिपत्य है। धार्मिक आयोजनों मे भी ये ही प्रमुख है और ये ही प्रवचन कार है। मध्यम वर्ग की स्थिति इतनी भयावह है कि वह अपनी सन्तति से ही आंतकित हुई रहती है। वह आज की बढती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप व्यवस्था नही कर पाती है और घर से ही पलायन किये रहती है। निम्न आय वर्ग तो इन प्रश्नों को उठाता ही नही है। उनमे तो साहस ही नही रह गया है।

आज समूचा समाज ही दिग्भ्रमित है। निजाधार खो कर निराधार होता जा रहा है। जैनत्व ही नहीं, जैनपन से भी हटते जा रहे हैं। पहिचान-सूत्र पुरानी परम्परा और रूढिया होकर ध्वस्त है। अब अपनी दुर्बलता और पाप को ढापने के लिये नयी पीढ़ी को आरोपित किये रहते है, दोषी करार दिये रहते है।

आज मन्दिरों की दुर्दशा है तो उसके लिए जिम्मेदार कौन है ? अष्टान्हिका पर्व और अन्य धार्मिक आयोजनों की शृंखला किसने समाप्त की है। तीर्थङ्कर भगवान के जन्म-कल्याणक के आयोजनों को भी धार्मिक से अधिक राजनीतिक स्वरूप कौन दिये जा रहा है ? शिक्षण संस्थाओ से धार्मिक शिक्षण क्यों उठा दिया गया है ? आज तो ऐसा कोई मंच भी नही है, जहां धर्म तत्व की चर्चा उठायी जा सके और अपनी जिज्ञासा का समाधान पाया जा सके। धार्मिक, सामाजिक और शिक्षण-सस्थाओं पर जिस तरह लोग आधिपत्य किए हुए है, वह ऐसी पकड है, जो सांप की केचुली की तरह है। संस्थाओं के विधान, नियम और तरीके ऐसे बनाये हुए है कि नया खून प्रवेश करना भी चाहे तो उनकी चाहना के बिना कर नहीं सकता है। स्वयम् नकारे होकर समाज को भी वैसा ही बनाये हुए हैं। तीस-तीस वर्षो से जुड़े हुए लोग भी पदो से मुक्त होकर संरक्षण देने, दिशा-बोधक बनने को तैयार नही है। एक दो-तीन संस्थाओ मे ही नही, कई संस्थाओं में अपनी टांग अड़ाये रहते हैं। फिर भी, प्रश्न उठाते हैं और युवकों को कोसते है। उन्हे शिकायत है कि युवक धार्मिक व सामाजिक संस्थाओ के कार्यो में रुचि नही लेते है। शायद, उनकी बातों का मर्म यही है कि वे इनके कार्यकर्त्ता होकर नही रहते, इन्हें मालाएं नही पहिनाते।

सही तो यह है कि आज सामाजिक संस्थाएं न्यस्त स्वार्थों का केन्द्र हो गयी हैं। नेतृत्व व्याधि-ग्रस्त है। इन सबके विरुद्ध कौन आवाज उठावे ? अवश्य ही, युवकों को विद्रोह के लिये होना

चाहिये। लेकिन, युवक तो आज समाज से जुडा हुआ ही नही है। कोई भी शक्ति अपना काम उसी समय करती है, जब प्रेरणा होती है। युवको के समक्ष कोई प्रेरणा नही है और प्रेरक शक्ति भी नही है। समाज मे कथित नेतृत्व उन हाथो मे है जिनका चिन्तन सम्यक् नही है जिनका आचार-विचार और व्यवहार भी सम्यक् नही है। युवक प्रभावित इनसे हो नही सकता। धर्माचार्य, बुद्धिजीवी व चिन्तक भी आज सम्पत्तिशाली के प्रति सदाशयी है। यही कारण है कि आज सस्थाऐं है, उनके नाम पट्ट है और नेता ही नेता है, कार्यकर्त्ता कोई नही है और जो हैं वे मुनीम-गुमाश्ते जैसे होकर हैं।

भगवान महावीर के सिद्धान्तों के अनुसरण की चर्चा भी इन व्याधि ग्रस्त नेता या पडितो से सुनता है तो मन ही मन हसता है। वह इस प्रकार की दुमुही बातो से दूर ही रहना चाहता है। इस लिए प्रश्न मात्र प्रश्न है। उत्तर है, जिसे देखने और समझने की हमारी तैयारी नहीं है। समाज वही चैतन्य और समृद्ध होता है जो आने वाली पीढी के लिए सीढी बनाये रहता है। नयी पीढी के विद्रोह को उभारता भी है और दिशा बोध भी देता है। वह दिन मगलमय होगा, जब यह मान्यता स्वीकार होगी कि नयी पीढी अपनी धारा मे होती है विकास मान होती है। अपने जमाने के अनुकूल होती है। गया कल आज को चिन्हित करे, यह विस्मयकारी है। जिस समाज मे ऐसा होता है, वह जड हुआ रहता है, अतीत होकर व्यतीत हो जाता है। जैन समाज जाग्रत समाज रहा है। यह जागरण तभी है, जब अहम् का विसर्जन है। युवको के जोश और बुजुर्गों के होश का समन्वय होना मगला चरण है, समाज का वर्तमान के लिए होकर जीवत होना है, जयवन्त होना है।

छाबडा भवन, 2, न्यू कालोनी
जयपुर



ण य बाहिर ओ भावो अब्भितरओ य अत्थे समयम्मि।
णोइ दिय पुण पडुच्च होइ अब्भिंतरविसेसो ॥ 50 ॥
शास्त्र मे ऐसी कोई व्यवस्था नही है कि अमुक भाव (पदार्थ) बाह्य है और अमुक भीतरी है। मन से जाना गया पदार्थ भीतरी विशेष है। —सन्मति सूत्र

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि निव्वाण।
अत्थि य मोक्खोवायो छस्समत्तस्स ठाणाइ ॥ 55 ॥
छह मान्यतायें सम्यक् रूप मानी गयी हैं। आत्मा है, अविनाशी है, कर्ता है, वेदक है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है। —सन्मति सूत्र

समाज जाग्रति के मंत्र

ले० राजकुमार शास्त्री, निवाई

राजस्थान प्रदेश सदा से ही गौरवान्वित रहा है। यहां अनेकों शूरवीरों ने, कर्मवीरों ने धर्मवीरों ने, जन्म लेकर इस प्रदेश की ख्याति को विख्यात किया है और इसके उज्ज्वल यश को चार चांद लगाये हैं। उसी राजस्थान प्रदेश की राजधानी संसार के सुन्दरतम नगर जयपुर में है। जयपुर नगर भी विद्वानों की खान रहा है। यहीं पर राजस्थान जैन सभा नामकी एक प्रभावक संस्था है। इस संस्था ने अपने प्रारम्भिक काल से ही अनेक जनोपयोगी एवं धार्मिक कार्य सम्पन्न करने की एक प्रक्रिया चालू कर रक्खी है।

उसी परम्परा में यह सभा श्री महावीर जयन्ती के उपलक्ष में प्रतिवर्ष एक वृहत्काय सुन्दर सुरम्य संग्रहणीय स्मारिका निकालती है जिसके लिये सभा के सभी पदाधिकारी बधाई के पात्र हैं। सदा की भांति इस वर्ष भी प्रकाशित होने वाली स्मारिका के यशस्वी संपादक श्री ज्ञान चन्द जैन बिल्टीलेवाने ने एक बिल्टी मेरे नाम भी प्रेषित कर दी। और उसमें मुझे निर्देश दिया गया है कि मैं भी समाज को जाग्रत करने के लिये कुछ लिखूं? मैं सोचता रहा कि जाग्रत तो उसे किया जावे जो सो रहा हो। जाग्रत समाज को जाग्रति का मंत्र क्यों और क्या सुनाया जावे। 3–4 दिन इसी उधेड़बुन में निकल गये। लेखक

लोकोक्ति है कि सोते हुए को तो जगाया जा सकता है लेकिन जो जग तो रहा है मगर जागना नहीं चाहता हो उसे कैसे जगाया जाय। जैन समाज एक प्रबुद्ध समाज है, इसमें अनेक विद्वान हैं, इतिहासज्ञ है, वकील है, डाक्टर और इंजिनियर भी है। प्रकांड अध्येता और कुशल प्रवक्ता भी हैं। अनेक धीमत श्रीमंत भी है। फिर भी समाज में जिस तरह की जाग्रति अपेक्षित है उस रूप मे अभी नहीं आई है शायद यही दृष्टि कोण मनस्वी संपादक जी का हो। इसीलिये मे अपने कुछ विचार लिख रहा हूं।

यह तो सभी जानते है कि व्यक्तियों से समाजें बनती है और समाजो से राष्ट्रों का निर्माण होता है।

यदि व्यक्ति प्रबुद्ध है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरुक है तो समाजें भी प्रबुद्ध और जागरुक बनेंगी और फिर राष्ट्र का निर्माण भी उसी रूप होगा। जैसे व्यक्ति अपने परिवार के प्रति आत्मीयता रखता है और उसे हर सम्भव प्रयत्न कर सुखी और सम्पन्न बनाता है, यही भावना प्रत्येक व्यक्ति की समाज के प्रति होनी चाहिये। यही आत्मीयता पूरे समाज की तरफ प्रत्येक व्यक्ति की होनी चाहिये कि मेरी सम.ज आदर्श बने सुसंस्कृत बने और सम्माननीय बने।

विद्वानो की मान्यता है कि अगर धन गया तो कुछ नहीं गया और अगर चरित्र गया तो सब कुछ गया। क्योंकि मनीषी वर्ग धन को धन नहीं मानता है, चारित्र को ही धन मानता है।

शास्त्रो मे श्रावको का आचार कैसा होना चाहिये इसका विशद् वर्णन है। इन शास्त्रो मे रत्नकरड श्रावकाचार और सागार धर्मामृत शास्त्र प्रमुख है। श्रावक पद पहिला पद है इसके 8 मूल गुण हैं। मदिरा (शराब), मास और मधु जिन्हें 3 मकार कहा जाता है। वड पीपल, ऊमर, कठूमर और पाकर ये पाच उदम्बर फल कहे जाते है। श्रावक होने के लिए इन आठो का त्याग करना जरूरी है।

इसलिये इन्हे मूल गुण कहते हैं। जैसे जड के बिना पेड नहीं ठहर सकता उसी तरह इन आठ चीजो का त्याग किये बिना श्रावक नही कहला सकता। उत्तर गुण 12 होते है। ये समाज के व्यक्तियो का चरित्र निर्माण करते हैं।

चरित्र निर्माण मे धर्म प्रमुख पार्ट अदा करता है। धर्म उसे ही कहते हैं जो व्यक्ति को दुर्गति और दुर्गुणो से बचाये और उसके विचारो को सही दिशा दिखाये।

जीवन को आदर्श और सुखी बनाने मे धर्म की बडी आवश्यकता है। हिंसा झूठ चोरी व्यभिचार और अनाचारों से धर्म ही तो बचाता है। सभी से प्रेम, दुखियो के प्रति दया भाव, बडो के प्रति विनय भाव, रखना धर्म ही बताता है।

धर्म के प्रति आस्था ईसाइयो और मुसलमानो से सीखना चाहिये। रविवार और शुक्रवार को ये दोनो वर्ग चाहे कही हो, कितने ही महत्त्व पूर्ण पद पर कायरत हो उसे छोड प्रभु की प्रार्थना मे शरीक हो जावेंगे। राज्य सरकारें भी उन्हे ऐसा करने से नही रोक पाती है। उनमे कितनी एकता है और सजगता है। करोडो की सख्या मे होते हुए भी वे अल्प सख्यक कहे जाते हैं। उन्हे विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त है। जैन कुछ लाखों मे ही है। सही माने मे ये अल्पसख्यक हैं। पूर्ण राष्ट्र भक्त हैं फिर भी उन्हे अल्पसख्यक नही माना जा रहा है। प्रतिनिधित्व देने का तो कही नाम ही नही है, क्योंकि इनमे ऐक्यता नही है, वे सगठित नहीं है।

अत समाज को जागृत करने के लिए निम्नलिखित सूत्रो को स्वीकारिये—

(1) मान्यताएँ अपनी अपनी पालते हुए भी जैन सब एक हो। ये नारा दीजिये।

(2) जैन सिद्धान्तो की प्रत्येक जैन को जानकारी होनी चाहिये। इस के लिए अल्प कालीन ही सही, धर्म शिक्षा का प्रबन्ध हो, शिक्षण शिविर लगाये जावें।

(3) प्रत्येक जैन अपने नाम के आगे जैन अवश्य लिखे

(4) प्रत्येक जैन जहा तक सभव हो नित्य जिनेन्द्र देव के दर्शन अवश्य करे। जहाँ जैन मदिर न हो वहा कम से कम एक माला णमोकार मत्र की जाप कर भोजन करे।

(5) जैन सस्कृति को जीवित रखने और स्वास्थ्य सरक्षण हेतु प्रत्येक जैन पानी छानकर ही पीवे। मास, अण्डा किसी भी कीमत पर न खाकर शाकाहारी भोजन ही करे। रात्रि भोजन न करे। विवशता मे भी रात के 11 बजे बाद किसी भी भोजन को न ले। शराब औषधि के रूप में भी न पीवे।

(6) जैन बच्चो व बालिकाओ मे भी जैन सस्कार डाले जावें। इसके लिए समय समय पर जैन शिक्षण शिविर लगाते रहना चाहिये। बारातो मे ट्विस्ट भोंडे नाच सर्वथा बद हो।

(7) जहा जैसी मान्यता हो (तेरह पथी, बीस पथी), वहा वही मानने दें। उनमे विवाद या टकराव न करें।

सभी जैन सस्थाएँ और जैन पत्र अपने अपने स्तर पर इनका प्रचार प्रसार करें ताकि बालक और बालिकाओ मे जैन सस्कार दृढतर होते जावें। नये भाजन मे (बर्तन मे) लगे सस्कार सदैव बने रहते हैं।

चरित्रवान को जो सम्मान हृदय से मिलता है वह अन्य को नही मिलता है।

अधिकांश व्यक्तियों का चरित्र निर्मल नहीं है। उनकी कथनी और करनी मे एकरूपता नही है। चरित्र के गुणगान करने वाले तो वहुत है, मगर चरित्र को ठीक ढग से पालन करने वाले विरले ही है। जिस समाज के व्यक्तियो का चरित्र विगड़ जाता है वह समाज न कभी जाग्रत वन पाता है न सम्मान प्राप्त कर सकता है।

समाज एक वृहत्काय समुदाय होता है, उसमें कई प्रकार की विचारधारा के लोग होते है। वे अपनी विचारधारा के अनुरूप अनेक कार्यकलापो मे संलग्न रहते है। कुछ व्यापारी होते है वे अपने-अपने व्यवसाय के सम्बन्ध में सोचते रहते हैं और उसे समुन्नत करने तक ही अपनी सूझबूझ को काम मे लेते है। कुछ कर्मचारी वर्ग के महानुभाव होते हैं वे उसी मे अपनी उन्नति हेतु अपनी वुद्धि का उपयोग करते रहते है। उन्हे समाज के विषय मे सोचने का अवकाश ही नही मिलता। इसी सामाजिक समुदाय मे एक ऐसा प्रवुद्ध वर्ग भी होता है जो सारी समाज को ही अपना परिवार मानता है और उसकी समुन्नति करने और उसमे जाग्रति लाने की सोचता है।

ऐसे वर्ग के महानुभावों को सोचना होगा कि समाज मे जाग्रति कैसे लाई जावे। इसी के सम्बन्ध मे मै भी अपने कुछ विचार रखता हूँ—आज कल हमारा खान पान सही नही रहा है। यह विज्ञान सम्मत तथ्य है कि खान पान के अनुसार ही विचार वनते है और विचारों के अनुकूल ही आचार वनते है। कहा जाता है कि जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन। दीपक अन्धेरा खाता है तो काजल उगलता है। आज आचरण मे जो शिथिलता आरही हैं वह खान पान का ही प्रभाव है। जैन शास्त्रों मे इसी विषय की एक कथा लिखी गई है। एक श्रावक जैन जो सुनारी धन्धा याने स्वर्णकार का कार्य करता था और वह मिलावट वगैरह (चोरी) भी करता था। एक दिन उसने एक मुनिराज को आहार दिया। जिस कमरे में वह अपना धंधा करता था उसी कमरे मे होकर ऊपर जाने आने का रास्ता था। आहार करके मुनि महाराज उसी कमरे मे होकर वाहर निकल रहे थे। तभी उन्होंने उसी कमरे मे रखा हुआ रत्नजडित सुन्दर सोने का हार देखा। मुनिराज ने उस हार को उठाया और कमंडल में डाल कर ले गये। सोनी श्रावक जव नीचे कमरे में आया तो हार को न पाकर वड़ा चिंतित हुआ। मुनिराज के अलावा और कोई आया नही हैं। लेकिन मुनिराज पर भी शका कैसे करता। वड़ी दुविधा मे था। उधर मुनिराज को थोड़ी दूर चल कर ही एक जोरदार उल्टी हुई। वह सारा अन्न पेट से निकल जाने से उन्हे विचार आया, हाय! यह मैंने क्या किया? वे तुरन्त वापिस लौटे और उस श्रावक को हार वापिस किया और प्रायश्चित लिया। अन्न न्यायोपार्जित हो। तभी सही विचार और आचार वनेगे। जैनों का आहार पहले वड़ा शुद्ध, सात्विक और मर्यादित होता था। इसीलिए यह प्रसिद्ध थी कि जैन वहुत ही ईमानदार होते है। सभी राज्यो मे जैनों को राज्य सेवामे सवसे प्रथम सर्विस मिल जाती थी। जैन वडे विश्वास पात्र न्यायी, पापभीरू और सतोषी होते थे।

प्राचीन काल में जैनो को 8 वर्ष की अल्पायु में ही श्री मंदिर जी मे लेजाकर अष्टमूल गुण धारण करा दिये जाते थे। उन्हे सर्व प्रथम आचारो धर्म. आचार ही प्रथम धर्म है, यही पाठ पढाया जाता था। परम पूज्य ऐलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी महाराज ने अभी अभी इन्दौर मे अपने प्रवचन मे कहा था कि मन्दिर और तीर्थों के निर्माण के साथ साथ श्रावकों का भी निर्माण करना पड़ेगा। इसीलिये यह वर्ष श्रावकाचार और शाकाहार वर्ष घोषित किया गया है। जैन

सत् का लक्षण

☐ राजकुमार छाबड़ा जयपुर

"सद् (का लक्षण) क्या है ?" या "जो सद् है वह सद् क्यो है ?" यदि ये प्रश्न उपयुक्त हैं तो सद् का लक्षण या परिभाषा देना आवश्यक है। भारतीय दर्शनो मे सद् को परिभाषित करने के किये गये प्रयासो मे से निम्न दो प्रयास महत्त्वपूर्ण हैं—

(1) जो अर्थ क्रिया समर्थ है वह सद् है[1]

यह लक्षण दिग्नाग स्कूल—जिसने बौद्ध तर्कशास्त्र का विकास किया था—ने दिया था।

(2) जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है वह सद् है।[2]

यह लक्षण जैन दार्शनिक देतेहैं, जिसे हम "त्रिलक्षण" नाम दे सकते है।

इन दोनो लक्षणो म निहित पूर्वमान्यताएँ हैं कि (अ) परिवर्तन वास्तविक है, और (ब) कार्य-कारण सम्बन्ध की अवधारणा सार्वभौमिक है। अर्थात् ऐसे किसी तत्त्व को "वास्तविक" नही कहा जा सकता जिसमें कोई परिवर्तन नही होता हो, अथवा जो कार्य-करण सम्बन्ध से परे हो। जैसे—सांख्य दर्शन मे स्वीकृत पुरुष तत्त्व। उपयुक्त लक्षणो की कुछ पूर्वमान्यताएँ हैं मात्र इसलिए उन्हे अनुपयुक्त नही मान लेना चाहिए। इन लक्षणो का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि क्या इनके द्वारा परिवर्तन और कार्य कारण सम्बन्ध की बुद्धिगम्य व्याख्या होती है।

जैन और बौद्ध दार्शनिको का मत है कि परिवर्तन वास्तविक होना चाहिए, अन्यथा ज्ञान और क्रिया अर्थहीन हो जायेंगे। अपरिवर्तनशील-कूटस्थ नित्य तत्त्व मे या से किसी प्रकार की क्रिया-परिणाम सभव नही है, इसलिए ऐसे तत्त्व से परिवर्तनशील अनुभव जगत् की व्याख्या नही की जा सकती। कूटस्थ नित्य तत्त्व बुद्धि का विषय नही हो सकता, उसकी व्याख्या अर्थात् " क्या है ?"—इस प्रश्न का ऐसे तत्त्व के बारे मे उत्तर सभव नहीं है। इसलिए जैन और बौद्ध दार्शनिक "पुरुष" (सांख्य दर्शन की अवधारणा) या "निर्गुण ब्रह्म" (अद्वैत वेदान्त की अवधारणा) जैसे तत्त्वो का निषेध करते हैं।

प्रत्ययवादी दार्शनिको—जैसे नागार्जुन और शकर का कहना है कि परिवर्तन और कार्य-कारण सम्बन्ध सांवृत्तिक या व्यावहारिक सत्य हैं। ये अनुभवातीत पारमार्थिक सत्ता पर लागू नही होते। प्रत्ययवादी कहना चाहेंगे कि वस्तुवादियो द्वारा आनुभविक सत्य को अनुभवातीत सत्ता पर लागू करना कोटिपरक दोष है। परन्तु वस्तुवादी सत्य और सत्ता के स्तर भेद स्वीकार नहीं करते इसलिए वे प्रत्ययवादियो की उक्त आपत्ति को भी स्वीकार नही करेंगे। इनके विपरीत उनका प्रत्यय वादियो के प्रति प्रश्न होगा कि "अनुभव" से "अनुभवातीत" को कैसे फलित किया जा सकता है ? वस्तुत प्रत्ययवादियो की कठिनाई गम्भीर है। पारमार्थिक सत्ता के बारे मे कुछ न-कुछ कहे बिना वे नही रह सकते। यह मांग तात्विक है।

परन्तु जो वर्णन वे करते हैं वह सत्य है या असत्य, या उसका अर्थ क्या है?—इन बातो के लिए वे कोई कसौटी नही प्रदान कर पाते। इसके अलावा "अनुभवातीत" और "आनुभविक" को पृथक-पृथक, परस्पर असम्बन्धित मानकर काम नही चलाया जा सकता। आनुभविक जगत् की व्याख्या का प्रश्न प्रत्ययवादियो के समक्ष भी है। यदि वे यह मानते है कि "अनुभवातीत" ही वस्तुतः सत् है तो "आनुभविक" जगत् कैसे संभव हुआ? इसे अविद्यारूप या असत् कह देने से समस्या का समाधान नही हो पाता है क्योंकि अविद्यारूप या असत् होने पर भी इसका बोध तो होता ही है। फिर, आनुभविक जगत् के असत्व और खपुष्प या गोलाकार वर्ग के असत्व में अन्तर मानना होगा।

प्रतीति और सत् में भेद की समस्या पर दर्शन के इतिहास में अनेकों प्रकार से विचार किया गया है। जिस प्रकार से हमें रज्जु मे सर्प का भ्रम होता है, प्रत्ययवादी कहना चाहते है कि, उसी प्रकार से हमारी लोक प्रतीति भी एक भ्रम है। प्रथम प्रकार के भ्रम की कोटि आनुभविक ही है। जबकि द्वितीय तात्विक कोटि का है। यदि यह मान भी लिया जाय कि "प्रतीति" और "सत्" में भेद करना आवश्यक है तो भी सत् की चर्चा करने के लिए उसका प्रतीति से सम्बन्ध स्पष्ट करना आवश्यक होगा। परन्तु प्रतीति और सत् का भेद या अनुभव और यथार्थ का भेद प्रत्ययवादियों के अनुसार इतना गहरा है कि उनमें कोई सम्बन्ध वास्तविक नही हो सकता है। वे "अर्थक्रियाकारित्व" को आनुभविक जगत् का लक्षण मानने को तो तैयार हो सकते हैं, परन्तु इसे अनुभवातीत सत्ता पर लागू नही मानते, क्योंकि वह तर्क, अनुभव, देश-काल व कार्य-कारण सम्बन्ध से परे है। प्रश्न है कि क्या ऐसी सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है जो ना तो परिणाम हो ना किसी परिणाम को उत्पन्न करे? इस प्रश्न का उत्तर मनोवृत्ति पर आश्रित है तर्क पर नही। तो भी यह कहा जा सकता है कि ऐसी सत्ता मे विश्वास करने पर ज्ञान व क्रिया व्यापारो का कोई अर्थ नहीं रहता है। यदि प्रत्ययवादियों का "परमार्थ" ना तो परिणाम है ना उसका आश्रय है (अर्थात् वह अर्थक्रियाकारित्व से परे है) तो, या वे अनुभव की कोई व्याख्या प्रस्तुत नही कर सकते या फिर उन्हें भी 'अर्थक्रियाकारित्व" को "परमार्थ" पर आरोपित करना पड़ता है। अतः जिस प्रश्न से हमने बात प्रारम्भ की थी यदि उस प्रश्न को उठाना अनुपयुक्त नही है तो हम कह सकते है कि "अर्थक्रियाकारित्व को सत् के लक्षण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिये। "अर्थ-क्रियाकारित्व" पर अनेकों कृतियां उपलब्ध हैं,[3] और इस विषय पर मैं इस समय पुनरूक्ति मात्र कर सकता हूं। फिर भी इस लक्षण का उल्लेख करने के दो कारण हैं—

1. "अर्थक्रियाकारित्व" और "त्रिलक्षण"—इन दोनों लक्षणों में समान पूर्वमान्यताएं निहित हैं जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके है। (लेकिन परिणाम और कार्य-कारण सम्बन्ध की जैन और बौद्ध व्याख्याओं मे अन्तर है।)

2. जैन दार्शनिक भी सत् के अर्थक्रियाकारित्व लक्षण को स्वीकार करते हैं क्योंकि वे इसे त्रिलक्षण मे ही गर्भित मानते हैं। उनका कहना है कि इससे क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती। वल्कि इससे यह फलित होता है कि "सत् परिणामीनित्य—नित्यानित्यामक होता है।"[4] परन्तु "क्षणिक तत्त्व अर्थक्रियाकारी होता है या नित्यानित्यात्मक?"—इससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि "सत् अर्थक्रिया कैसे करता है?" अर्थात् वस्तु जिस क्षण जो अर्थक्रिया करती है, उस क्षण वह अन्य अर्थक्रियाओं को क्यों नहीं करती है? जैनों के अनुसार द्रव्य नित्य है और

वह अपनी पर्यायों का कर्त्ता होता है। अत प्रश्न उठना है कि वर्तमान पर्याय में भूत अथवा भविष्यत् पर्यायों का साक्य क्यों नहीं होता ?, अर्थात वर्तमान क्षण में द्रव्य भूत अथवा भविष्यत् पर्यायों के रूप मे परिणित क्यो नहीं होता। जैनो का समाधान है कि मात्र पर्याय या मात्र द्रव्य अर्थक्रियाकारी नही होते। विशिष्ट पर्याय से युक्त द्रव्य ही अर्थक्रियाकारी होना है, जैसी पूर्व पर्याय होती है वैसी ही उत्तर पर्याय होती है।[6] यहाँ यह प्रश्न प्रासगिक है कि पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य में ऐसी क्या "योग्यता" होती है जिससे एक नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न हो सकती है अन्य कोई नही। यहा हम इस प्रश्न पर विस्तार से विचार नही कर सकते क्योंकि इसके लिए हमे जैन दर्शन मे अभाव, कार्य-करण सम्बन्ध, उपादान व निमित्तकारण आदि प्रत्ययो पर विचार करना होगा।[6] अर्थक्रियाकारित्व के आधार पर जहाँ बौद्धो का कहना है कि नित्य तत्त्व अर्थक्रिया नही कर सकता, अत "सव क्षणिकम", वहा जैनो का कहना है कि नित्य तत्त्व अर्थक्रियाकारी हो सकता है, यदि हम "नित्य" को 'परिणामीनित्य" के रूप में लें।

त्रिलक्षण की व्याख्या—

त्रिलक्षण का प्रत्यय यह है कि "जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है, जिसमे ये तीनो धर्म युगपत् पाये जाये हैं, वह सत् है। "उत्पाद" व "व्यय" धर्म "परिणाम" के द्योतक हैं जबकि "ध्रौव्य" धर्म "नित्यत्व" का।

अत सत् त्रिलक्षण रूप है = सत् परिणामी नित्य है। जैनों का कहना है कि द्रव्य मे प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का व्यय, उत्तर पर्याय का उत्पाद और गुण ध्रुव रहते हैं, अत द्रव्य (द्रव्य की गुणपर्ययवद् अवधारणा) सत् है। "त्रिलक्षण" द्वारा द्रव्य की जैन अवधारणा सिद्ध होती है। अत इस पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना अपेक्षित है।

जैन "त्रिलक्षण" को चेतन और अचेतन हर प्रकार के तत्व पर लागू करते हैं। कुन्दकुन्द का कहना है कि "[इस लोक में] परिणाम के बिना [कोई] वस्तु नही है। और वस्तु के बिना [कोई] परिणाम नहीं है।"[7] यह एक अभिकथन मात्र है। कुन्दकुन्द कहना चाहते हैं कि परिणाम रहित वस्तु के होने का कोई "अर्थ" नहीं है और आधार के बिना परिणाम भी सम्भव नहीं है। पूज्यपाद त्रिलक्षण की उदाहरण सहित निम्न प्रकार व्याख्या करते हैं—

"अपनी अपनी जाति को न छोड़ते हुए चेतन और अचेतन द्रव्य की उभय निमित्त के वश से अन्य पर्याय का उत्पन्न होना उत्पाद है। जैसे मिट्टी के पिण्ड का घट पर्याय रूप से उत्पन्न होना उत्पाद है। उन्ही कारणो से पूर्व पर्याय का प्रध्वस होना व्यय है। जैसे घट की उत्पत्ति होने पर पिण्डरूप आकृति का नाश होना व्यय है तथा जो अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव है उसका व्यय और उदय नहीं होता वह स्थिर रहता है, इसलिए उसे ध्रुव कहते हैं। इस ध्रुव का भाव या कर्म ध्रौव्य है। जैसे मिट्टी की पिण्ड और घटादि अवस्थाओ मे मिट्टी का अन्वय बना रहता है। इस प्रकार इन उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त है वह सत् है।"[8]

उपर्युक्त उद्धरण मे प्रथम रेखाकित वाक्याश का अर्थ है कि परिवर्तित होने पर भी द्रव्य अपने सामान्य स्वभाव को कभी नही छोडता है। द्रव्यत्व सदैव कायम रहता है तथा एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप पारिणमित नही होता। जीव का "जीवत्व" और अजीव का "अजीवत्व" सदैव कायम रहता है, इसे ही द्वितीय रेखाकित वाक्याश में "अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव" कहा गया है।[9]

(पूज्यपाद ने मिट्टी को ध्रौव्य के उदाहरण के रूप मे लिया है। क्योंकि वह पिण्ड और घट से अधिक स्थिर पर्याय है परन्तु इससे मिट्टी को द्रव्य नहीं समझना चाहिए। वह भी पुद्गल परमाणुओं की स्कन्ध रूप अवस्था है।)

पूज्यपाद ने यहाँ त्रिलक्षण की व्याख्या मात्र की है, लेकिन उनके पूर्ववर्ती समन्तभद्र इस संदर्भ मे निम्न युक्तियाँ देते हैं--

1. प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से तत्व कथन्चित् नित्य और कथंचित् अनित्य है, क्योंकि सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य [क्षणिक] तत्व बुद्धि का विषय नहीं हो सकता।[10]

"यह वही है"—यह प्रत्यभिज्ञान का आकार है। यहाँ "यह" पद वर्तमान पर्याय का और "वह" पद अतीत पर्याय का द्योतक है, अर्थात् इन दोनों पदों से परिणाम सिद्ध होता है। लेकिन इसके साथ उपर्युक्त आकारिक कथन इन पदों में एकत्व को भी स्थापित करता है। यदि हम प्रत्यभिज्ञान का "तार्किक मूल्य" स्वीकार कर लें अर्थात् इसे एक प्रमाण मान लें तो इससे यह फलित होगा कि सत् (प्रमात्ता और प्रमेय दोनो) नित्यानित्यात्मक है। यहाँ समन्तभद्र ने "बुद्ध्यसंचरदोषत:" पद द्वारा वस्तुवाद को स्वीकार किया है। उनका कहना कि सत् में प्रमेयत्व धर्म होता है अर्थात् वह बुद्धि का विषय होना चाहिए। परन्तु सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य तत्व बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। ऐसे तत्व की पहचान (प्रत्यभिज्ञा) असम्भव है। अत: प्रत्यभिज्ञान प्रमाण से सत् त्रिलक्षण रूप सिद्ध होता है।

2. आनुभविक विधेयात्मक युक्ति—सुवर्ण घट का नाश और मुकुट की उत्पत्ति होना। इस घटना से सुवर्ण घट इच्छुक दुःखी होता है, सुवर्ण मुकुट इच्छुक हर्षित होता है, लेकिन मात्र सुवर्ण इच्छुक मध्यस्थ रहता है। ये तीनों परिणाम सहेतुक हैं, (अतः सत् त्रयात्मक है)।[11]

3. आनुभविक निषेधात्मक युक्ति—दूध, दही और गोरस। जिसे दूध खाने का व्रत है वह दही नहीं खाता, जिसे दही खाने का व्रत है वह दूध नहीं खाता, लेकिन जिसे गोरस नही खाने का व्रत है वह दोनों ही नहीं खाता। इसलिए सत् त्रयात्मक है।[12]

कुन्दकुन्द के निम्न कथन में भी युक्ति निहित है—

"उत्पाद. भंग (व्यय) के विना नहीं होता, भंग, विना उत्पाद के नहीं होता; उत्पाद तथा भंग ध्रौव्य पदार्थ के विना नही होता।"[13]

सत् के प्रति उत्पाद, व्यय या ध्रौव्य--इन तीन धर्मो मे से किसी एक धर्म का विधान अवश्य करना पड़ता है। लेकिन कुन्दकुन्द का कहना है कि इनमे से किसी एक धर्म का विधान अन्य धर्मों की अपेक्षा रखता है। इनमे से किसी एक या दो धर्मो को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार नही किया जा सकता। उपर्युक्त उद्धरण मे चतुर्थ विकल्प—ध्रौव्य, उत्पाद व व्यय (परिणाम) के विना भी सम्भव नही है—का उल्लेख नही हुआ है परन्तु कुन्दकुन्द ने अन्यत्र इसका भी उल्लेख किया है। (देखें—उद्धरण नं० 7) इसी बात को जैन दार्शनिक इस प्रकार कहते हैं कि द्रव्य पर्याय के विना और पर्याय द्रव्य के विना सम्भव नही है। समयसार में कुन्दकुन्द का कहना है कि "जीव और पुद्गल द्रव्य दोनों परिणाम स्वभावी हैं। जीव स्वयं क्रोधादिरूप से परिणमन करता है और पुद्गल द्रव्य भी स्वयं ज्ञानावरणादि कर्मरूप मे परिणत होकर जीव से बंधते हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो संसार का अभाव हो जायेगा या सांख्यमत का प्रसंग उपस्थित होगा।"[14] उनने

स्पष्ट है कि जैन दार्शनिक प्रारम्भ से यह स्वीकार करते हैं कि परिणाम या अर्थक्रियाकारित्व के बिना किसी तत्व को सत् नहीं कहा जा सकता।

बौद्धो के समक्ष यह प्रश्न है कि कार्य कारण सम्बन्ध, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदि की व्याख्या कैसे की जाय ? उनके अनुसार जगत् मे क्षणो की अनेक धाराऐं हैं और एक धारा के पूर्वोत्तर क्षणो मे ही कार्य-कारण सम्बन्ध, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, आदि घटित होते हैं। परन्तु 'धारा" या "सतान" क्षणो मे व्याप्त कोई तत्व नही है। "सर्वं क्षणिकम्" को निम्न प्रकार से चित्रित किया जा सकता है—

$$x^1_{-3}, x^1_{-2}, x^1_{-1}, x^1_{-0}, x^1_1, x^1_2,$$
$$x^2_{-3}, x^2_{-2}, x^2_{-1}, x^2_0, x^2_1, x^2_1,$$

बौद्धों के अनुसार x^1_I क्षण

$$1 = [\quad , -2, -1, 0, 1, 2, \quad]$$

$I = [\quad , -2, -1, 0, 1, 2, \quad ..]$ और $x^1_{I_{+1}}$ क्षण मे कारण-कार्य सम्बन्ध है, परन्तु x^1_I क्षण $x^1_{I_{+1}}$ क्षण को उत्पन्न नही करता क्योंकि जब पूर्वक्षण है तब उत्तरक्षण नही होता तथा x^1_I क्षण निरन्वय और निर्हेतुकरूप मे स्वत नष्ट हो जाता है। मात्र इनमें पूर्वापर भाव होने से ही इनमें कारण-काय सम्बन्ध है। परन्तु यह पूर्वापर भाव तो x^1_I का $x^{1+1}_{I_{+1}}$ से भी है। अत तब क्या कारण है कि x^1_I, $x^1_{I_{+1}}$ का तो उपादान कारण है पर $x^{1+1}_{I_{+1}}$ का नहीं ? यदि बौद्ध सन्तान को वास्तविक नही मानते तो सन्तानो मे साङ्कर्य क्यो नही होता ? देवदत्त द्वारा किये गये अनुभव की यज्ञदत्त को स्मृति क्यो नही होती ? बौद्ध दार्शनिकों ने इन प्रश्नो का कोई सन्तोषजनक उत्तर नही दिया है। यदि कारण कार्य को उत्पन्न करने के लिए कोई व्यापार नही करता, क्योंकि कारण कार्यकाल तक ठहरता ही नहीं है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि काय की यादृच्छिक उत्पति होती है। हम कह सकते हैं कि वस्तुत बौद्ध दार्शनिक कार्य-कारण सम्बन्ध या अर्थक्रियाकारित्व को स्वीकार ही नही करते हैं। तब प्रश्न उठता है कि बौद्ध सत् को अर्थक्रियाकारित्व के रूप मे परिभाषित ही क्यों करते हैं ? क्या इसके द्वारा वे मात्र नित्यवाद का खण्डन करना चाहते हैं ? बौद्धों का निष्कर्ष जो भी हो वह अन्तिम नही है। वस्तुत वे कार्यकारण सम्बन्ध की व्याख्या करने मे असफल रहे हैं। अत जैनों का यह कहना अनुचित नही है कि **परिणाम, अर्थक्रिया या उत्पाद व व्यय, द्रव्य या ध्रौव्य के बिना सम्भव नहीं है।**

अमृतचन्द्र ने त्रिलक्षणो के अविनाभावित्व के लिए अन्य जो युक्तियाँ दी हैं,[15] उन्हें निम्न प्रकार से रखा जा सकता है—

1 व्यय और ध्रौव्य से रहित मात्र उत्पाद सम्भव नही है, क्योकि व्यय (ध्रौव्य सहित व्यय), उत्पाद का कारण होता है। जैसे मृत्पिण्ड के व्यय से घट की उत्पत्ति होती है। अत घट के उत्पत्ति कारण "मृत्पिड का व्यय होना" के अभाव में घट की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती और जिस तरह से घटोत्पाद नही होगा उसी तरह से कोई भी कार्य इस मत मे उत्पन्न नहीं होगा, अथवा शून्य से काय की उत्पत्ति माननी पडेगी जोकि बुद्धिगम्य मत नही है। अत उत्पाद, व्यय (और ध्रौव्य) सहित होना है।

2. उत्पाद और ध्रौव्य से रहित मात्र व्यय सम्भव नहीं है, क्योंकि उत्पाद (ध्रौव्य सहित), व्यय का कारण होता है। जैसे घट का उत्पन्न होना मृत्पिण्ड के व्यय का कारण होता है। अतः उत्पाद (घट) के अभाव मे व्यय (मृत्पिण्ड का व्यय) नही हो सकेगा, अथवा सत् का ही उच्छेद हो जायेगा।

3. इसी प्रकार उत्पाद और व्यय के बिना ध्रौव्य भी सम्भव नही है। जैसे पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट, कपाल आदि अवस्थाओ के बिना मृतिका सम्भव नहीं है। यदि ध्रौव्य, उत्पाद और व्यय के बिना भी सम्भव हो अर्थात् उत्पाद और व्यय के बिना भी तत्व स्थिर रह सकता हो, तो क्षणिक पर्यायों का नित्यत्व भी सम्भव हो जाना चाहिए। अतः ध्रौव्य भी उत्पाद व व्यय सहित होता है।

"ध्रुव" "नित्य", "स्थिर" आदि प्रत्ययों में परिणाम की अपेक्षा रहती है। जो अपने स्वभाव को नही छोड़े, जो सदैव कायम रहे, वह नित्य है।[16] प्रश्न उठता है। कि "सदैव" कायम कहां रहे ? या स्वभाव को "कहां" नही छोड़े ? इसका उत्तर होगा कि "काल के किसी भी क्षण में" या "अपनी किसी भी अवस्था मे"। इसका अर्थ हुआ कि काल-भेद, अवस्था-भेद या परिणाम सहित ध्रौव्य होता है। नित्यत्व और अनित्यत्व दोनो वस्तु के अंश है। द्रव्य अपने स्वभाव को नही छोड़ता यह "ध्रौव्य" है, परन्तु उसकी अवस्थाएँ बदलती है, यह "परिणाम" या "अनित्यत्व" है। इस सिद्धात मे किसी प्रकार का आत्म-विरोध नही है। क्योकि वस्तु जिस रूप से ध्रुव होती है, उस रूप से परिणाभी नही होती और कथन मे "स्यात्" पद का प्रयोग करके वस्तु में निहित विरोधी परन्तु अविनाभावी अपेक्षाओं को स्पष्ट किया जा सकता है।

पाद टिप्पणियाँ :

1. कर्थक्रियासमर्थ यत् तदत्र परमार्थसत्। प्रमाणवार्त्तिक 2/3
2. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। —तत्वार्थ सूत्र 5/30
3. See (i) The Buddhist Philosophy of Universal Flux by Satkari Mookerjee. Delhi : 1980 (reprinted) Ch I–IV
   (ii) Critique of Indian Realism. by D. N. Shastri, Delhi : 1976 (reprinted) Ch. VI
   (iii) Akalanka's Criticism of Dharmakirti's Philosophy by Nagin J. Shah. Ahmendabad; 1967. Ch II.
4. कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा गाथाएं 225–28, पञ्चास्तिकाय संग्रह गा. 8 की अमृतचन्द्रकृत टीका।
5 प्रमेयकमलमार्तण्ड 2/2 पृ. 200; का.के. प्रे–गा 222–23, 229
6. इस समस्या पर फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने विचार किया है। देखे—जैनतत्वमीमांसा, अ. चतुर्थ; पृ. 71–99, वाराणसी: 1977
7. णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो। —प्रवचनसा गा. 10
8. चेतस्याचेतनस्य वा··· उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति।—सर्वार्थसिद्धि, 5/30,

9 द्रव्य के सामान्य और सदैव पाये जाने वाले धर्मों को "पारिणामिक" भाव कहा गया है। जसे जीव मे जीवत्व या सब द्रव्यो मे समान अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रदेशत्व। (देखें—सर्वार्थसिद्धि 2/7 की टीका) इस सन्दर्भ मे "परिणाम" को विशेष प्रकार से परिभाषित किया गया है— द्रव्यात्मकलाभमात्रहेतुक परिणाम। (सर्वार्थसिद्धि 2/1 की टीका) अर्थात् जिसके होने मे द्रव्य का स्वरूपलाभ मात्र कारण होता है वह परिणाम है। और इस परिणाम का भाव पारिणामिक है। अन द्रव्यत्व अर्थात् द्रव्य का द्रव्य बना रहना पारिणामिक भाव है और यही द्रव्य का ध्रौव्य है।

10 आप्तमीमासा, का० 56

11 वही, का० 59

12 वही, का० 60

13 ण भवो भगविहीणो भगो वा णत्थि सभवविहीणो।
उप्पादो वि य भगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ —प्रवचनसार, गा० 100

14 देखें—समयसार, गा० 116–125

15 तथा सति हि केवल क्षणिक नित्यत्वे वा,
चित्तक्षणानामपि नित्यत्व स्यात्।
—प्रवचनसार, गा० 100 की अमृतचन्द्र कृत टीका।

16 तद्भावाव्ययनित्यम्। —तत्वार्थ सूत्र 5/31



विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चा तरम्।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरु सर्षपयोरिव ॥
—ज्ञानार्णव, पृ० 215

वस्तु स्वरूप के जानने वाले विद्वानो ने कालकूट (हालाहल) विष और विषयो मे सरसों और मेरु पर्वत के समान अन्तर कहा है। (विष सरसों समान है और विषय मेरु समान।)

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चित्तनिर्जय।
न निर्वेद कृतो मित्र नात्मा दु खेन भावित ॥
एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यानसाधने।
स्वमेव वञ्चित मूढैर्लोकद्वयपथच्युतै ॥

हे मित्र! जिसने इन्द्रियो को वश नहीं किया, चित्त को जीतने का अभ्यास नही किया, वैराग्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मा को कष्टो से भाया नही और वृथा ही मोक्ष हेतु ध्यान मे प्रवृत्त हो गये, उन्होंने अपने को ठगा और इहलोक परलोक दोनो से च्युत हुए। —ज्ञानार्णव, पृ० 215

प्राचीन जैन साहित्य में पाटलिपुत्र

प्रो० डा राजाराम जैन

जैन[1] संस्कृति, वैदिक जैन एवं बौद्ध रूप भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी का एक प्रमुख अग है। जैनाचार्यो ने प्रारम्भ से ही उसके विकास एवं सरक्षण मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एक ओर उसने स्याद्वाद एवं अनेकान्त के माध्यम से समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया, तो दूसरी ओर, शिलालेखो, गुफागृहों एवं ग्रन्थ प्रशस्तियो के माध्यम से भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण कड़ियों को जीवित बनाए रखा तथा प्राच्य जैन-शास्त्र-भण्डारों के माध्यम से उसने भारतीय विद्या के अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों को सुरक्षित रखा है। नन्द एवं मौर्यवंशी राजाओं के वर्णन, महामति चाणक्य के उत्तरवर्ती, जीवन महाकवि कालिदास एवं भारवि के काल-क्रम के निर्धारण, मगध एवं विदेह की दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं, दिल्ली एवं गोपाचाल के तोमरवंशी राजाओं के कालक्रम सम्बन्धी क्रमबद्ध सन्दर्भ भी प्राचीन जैन साहित्य मे सुरक्षित है।

जैन धर्म का जन्म भले ही कोशल मे हुआ हो किन्तु उसका चरम विकास हुआ मगध एवं विदेह क्षेत्र मे। यही से वह देश-देशान्तरों में फैला। उसके 24 मे से 22 तीर्थंकरों को इसी पवित्र भूमि मे बोधि एवं निर्वाण प्राप्ति हुई। अनेक तीर्थंकरों की यह जन्मभूमि भी रही। इन्हीं तीर्थंकरों एवं जैन साधकों के निरन्तर विहार करते रहने अर्थात् गमनागमन करते रहने के कारण इस प्रदेश का नाम "विहार" पड़ा। जेन धर्म की दृष्टि से अत्यन्त पवित्र होने के कारण जैन लेखको ने श्रद्धाभिभूत होकर प्राचीनकाल से ही इस प्रदेश का इतिहास लिखते रहने का प्रयत्न किया है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, राजनीति, अर्थनीति, व्यापार उद्योग धन्धे, विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध, यातायात के साधन, भूगोल, लोकजीवन, सामाजिक रीति-रिवाज, रहन-सहन, लेखन एवं चित्रकला, मनोरंजन के साधन आदि विषयों को उन्होंने सरस शैली मे प्रस्तुत किया है। जैन साहित्य मे मगध एवं विदेह का वर्णन तो प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। यदि उसे उससे निकाल दिया जाय तो वह श्रीविहीन एवं अपूर्ण जैसा रह जायेगा।

प्राकृत एवं संस्कृत के जैन-साहित्य मे पाटलिपुत्र की स्थापना तथा तद्विषयक अन्य अनेक विषयों की चर्चाएं मिलती है। उसमें पाटलिपुत्र के पाटल, पाटली, पाटलिग्राम, पाटलिपुर, पाटलिनगर, कुसुमपुर, पुष्पपुर पुष्पभद्र आदि नाम मिलते हैं। ये सभी नाम पुष्पवाची होने के कारण

1. पाटलिपुत्र महोत्सव के अवसर पर पटना म्यूजियम पटना द्वारा दिनांक 20–21 नवम्बर, 1985 को आयोजित सेमिनार – Pataliputra through the ages मे पठित एवं चर्चित शोध-निबन्ध।

स्पष्ट विदित होता है कि यह स्थल प्रकृति का एक मनोरम प्रांगण था, जहाँ सर्वत्र अनुपम सौन्दर्य बिखरा रहता था।

अर्धमागधी प्राकृत[1] एवं अन्य जैन ग्रन्थों के अनुसार[2] सम्राट श्रेणिक (बिम्बसार) के स्वर्गवास के बाद उनका पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) पितृशोक में विह्वल होकर राजगृही छोड़कर चम्पापुरी में निवास करने लगा। जब कुणिक की भी मृत्यु हो गई, तब उसके पुत्र उदायी को भी पितृशोक ने अशान्त बना दिया। वह जब जब अपने पिता द्वारा निर्मापित सभा भवन,(Parliament House) चित्रशाला (Drawing Room), राजभवन (Palace), क्रीडा-स्थल (Stadium), एवं शयनागार (Sleeping and Rest House) आदि देखता था, तब तब वह रोने लगता था। यह स्थिति देखकर अमात्यों ने परस्पर में विचार-विमर्श करके उदायी को स्थान परिवर्तन की सलाह दी, जिसे उसने स्वीकार कर लिया और उसने अपने विश्वस्त नैमित्तिकों को नवीन-नगर निर्माण हेतु उपयुक्त स्थान की खोज करने के लिए भेजा।

नैमित्तिक लोग विचरण करते हुए गंगातट पर आये तथा वहाँ के गुलाबी पाटलि पुष्पों की अधिकता तथा उनकी सुगन्धि से मोहित होकर वहीं रुक गए। उन्होंने पार्श्ववर्ती एक पाटलिवृक्ष, (जो कि एक जैन साधु की खोपड़ी में उत्पन्न हुआ था, की शाखा) पर चाप नामक एक पक्षी को मुँह खोलकर बैठे हुए देखा। उड़ते हुए कीट-पतंग स्वतः ही उसके मुख में आ-आकर प्रविष्ट होते जा रहे थे। यह देखकर नैमित्तकों ने उस स्थल के भविष्यफल पर विचार किया और निष्कर्ष निकाला कि जिस प्रकार "चाप" पक्षी के मुख में अनेकानेक कीड़े स्वतः प्रविष्ट होते रहे हैं, उसी प्रकार इस स्थल पर भी नगर-निर्माण के बाद उसके राजा के यहाँ लक्ष्मी स्वयमेव आती रहेगी।" इस प्रकार नैमित्तकों की सलाह से उदायी ने गंगा तट के उसी स्थान पर पाटलिपुत्र की स्थापना की।

आवश्यक सूत्र (पृ० 689) के अनुसार उक्त उदायी जैन धर्मानुयायी था। उसने अपनी नवीन राजधानी पाटलिपुत्र में एक सुन्दर जैन चैत्यालय का निर्माण करवाया था।[3] उसके राज्यकाल में जैन साधु स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण किया करते थे। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उदायी जैन होने के नाते मासिक पर्वों एवं उत्सवों के समय नियमतः प्रोषध आदि व्रत किया करता और साधुओं को आहार आदि का दान किया करता था। इसी क्रम में एक बार अवसर पाकर आहार लेने के बहाने एक ईर्ष्यालु राजकुमार ने साधु वेश में उसके राजमहल में जाकर उसकी हत्या कर डाली।[4] मृत्यु के समय उसका कोई भी उत्तराधिकारी न था।

जैन परम्परा के अनुसार उत्तराधिकारी के निर्वाचन हेतु 5 राजकीय चिन्ह—हाथी, घोड़ा, छत्र, कलश एवं चँवर अभिमन्त्रित कर छोड़े गए और उन्होंने नन्द नामक एक युवक का निर्वाचन किया। नियमानुसार उसी को मगध का

1 आवश्यक सूत्र पृ 687
2 त्रिषष्ठि (हेम) 10/426
3 नगर नाभौ चोरायिन्त्वा चैत्यगृह कारित
4 आवश्यक सूत्र पृ 690 /परिशिष्ट पर्व 6/208–9

सम्राट बनाया गया।[1] यह घटना महावीर निर्वाण के 60 वर्ष बाद (467 ई. पू०) की है।[2] इन नन्द राजाओं ने लगभग 94 वर्षों तक राज्य किया।[3] अन्तिम नन्द नरेश से अपमानित होने के कारण चाणक्य-ब्राह्मण ने उसका समूल नाश कर मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त (प्रथम) को मगध-सम्राट बनाया। यह घटना महावीर-निर्वाण के 155 वर्ष बाद की है।[4]

उक्त नन्द नापित गणिका का पुत्र था।[5] मत्स्य पुराण मे भी उसे शूद्रापुत्र कहा गया है और बतलाया गया है कि उसने क्षत्रिय राजाओ को मारकर 88 वर्षों तक तथा उसके सुकाल्य आदि 8 पुत्रों ने 12 वर्षों तक राज्य किया था। इस प्रकार इन 9 नन्दों का राज्य कुल मिलाकर 100 वर्षों तक चला। तत्पश्चात् कौटिल्य ने उनके राज्य को नष्ट कर मौर्यवंश के चन्द्रगुप्त (प्रथम) को गद्दी पर बैठाया।[6] उक्त दोनों तथ्यों का अध्ययन कर डॉ० प्रधान ने निष्कर्ष निकाला है कि—This agrees fairly well with the Puranic tradittion that the Nandas ruled for about a hnndred years. Tne Puranas probably borrowed tne information from the ancient Jaina sources.[7]

हाथीगुम्फा शिलालेख से विदित होता है कि खारवेल ने मगध पर आक्रमण करके वहाँ से कलिंग-जिन (तीर्थंकर ऋषभ) की मूर्ति को वापिस ले गया था।[8] इस प्रसंग में मेरा अनुमान है कि उक्त शिलालेख में जिसे "कलिंग-जिन" कहा गया है, वह मूर्त्ति पूर्व में "मगधजिन" के रूप में प्रतिष्ठित रही होगी। क्योंकि नन्दराजाओं के पहले भी जैन-मूर्तियों का निर्माण होने लगा था। किसी प्रकार कलिंग में ले जाए जाने पर वह कलिंग-जिन के नाम से प्रसिद्ध हुई होगी। अन्ततः कलिंग में जाने के बाद उस ऐतिहासिक मूर्त्ति का क्या हुआ, इसकी जानकारी नही मिलती।

पाटलिपुत्र के लोहानीपुर नामक मुहल्ले में खुदाई करते समय कायोत्सर्ग-मुद्रा की जो जैन-मूर्त्ति मिली है,[9] उसे देखकर अनुमान होता है कि प्रथम बार मे "मगध जिन" के कलिंग में ले जाए जाने के तत्काल बाद ही सम्भवतः रिक्तता को पूर्ण करने हेतु उसकी प्रतिकृति बनाकर उसे पाटलिपुत्र के एक नव-निर्मित कलापूर्ण जैन मन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया होगा जो पश्चाद्वर्ती कालों में किन्ही कारणों से नष्ट-भ्रष्ट हो गयी होगी और उक्त उत्खनन में वही खण्डित जिन मूर्त्ति उपलब्ध हुई है।

1. आ. सू पृ. 242./परिशिष्ट पर्व 6/242.
2. परिशिष्ट. 6/243
3. परिशिष्ट. 8/3 8
4. परिशिष्ट. 8/339
5. आवश्यक. पृ. 690, परिशिष्ट. 6/231–232.
6. मत्स्यपुराण 272/17–21.
7. C. J. Shah Jainism in N. India P. 124
8. हाथीगुम्फा शिलालेख पं. सं. ......
9. Studies in Jain Art (U. P. Shah) Plate 1 Fig. 2

डॉ के पी जायसवाल, विंसेण्टस्मिथ, चारपेंटियर तथा डॉ नीलकण्ठ शास्त्री ने नन्दो को जैन धर्मानुयायी मानते हुए निम्न तर्क दिए है—

1 कलिंग विजय के समय नन्दनरेश कलिंग-जिन को एक "विजय-चिन्ह" के रूप मे मगध मे लाए तथा उसे खारवेल के आक्रमण के समय तक लगभग 300 वर्षों तक सादर सुरक्षित रखे रहे।[1]

2 अन्तिम का प्रधानमन्त्री शकटाल जैन था। उसकी मृत्यु के बाद नन्द ने उसके पुत्र स्थूलिभद्र को मन्त्री बनाना चाहा, किन्तु उसके द्वारा अस्वीकार किए जाने के कारण उसके कनिष्ठ पुत्र श्रीयक को उसने मन्त्रीपद प्रदान किया। ई० पूव के नन्द नरेशों के मन्त्री भी जैन ही थे, जिनमे कल्पक प्रथम मन्त्री था जिसकी सहायता से नन्द ने क्षत्रिय राजाओं को उखाड फेंका था।[2] मुद्राराक्षस[3] नाटक से भी इस तथ्य का समर्थन होता है।

नन्दो ने अपने पराक्रम से पूर्व मे कलिंग तक तथा दक्षिण मे गोदावरी तक मगध साम्राज्य का विस्तार किया। इस प्रकार मगध की शक्ति की वहाँ ध्वजा फहराई अवश्य फिर भी वैदिक-धर्म की उपेक्षा करने के कारण उन्हें भारतीय इतिहास मे प्रतिष्ठा नहीं मिल सकी।[4]

मौर्य चन्द्रगुप्त (प्रथम)—

मौय चन्द्रगुप्त प्रथम की चर्चा तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना, आवश्यक सूत्र, बृहत कथा कोष, श्रवण बेलगोल के शिलालेखों, परिशिष्ट पर्व एव चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक (रइधू कृत) में मिलती है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार मुकुटधारी राजाओ मे अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त मौय (प्रथम) ही था जिसने जैन-दीक्षा धारण की। उसके बाद कोई भी मुकुटधारी राजा दीक्षित नही हुआ।[5] केवल ज्ञानियो एव श्रुतकेवली आचार्यों के क्रम मे चन्द्रगुप्त का उल्लेख स्वय अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इस उल्लेख से यह सन्देह नही रहता कि अन्तिम-श्रुतकेवली भद्रबाहु एव चन्द्रगुप्त (प्रथम) समकालीन हैं। भद्रबाहु (प्रथम) का काल ई० पू० 380 से ई० पू० 369 माना गया है।

जैन-साहित्य[6] एव शिलालेखीय प्रमाणो से यह सिद्ध है कि वह अपने अन्त समय मे जैन धर्मानुयायी हो गया था तथा आचाय भद्रबाहु (प्रथम) से जैन दीक्षा लेकर उनके साथ ही श्रवणबेलगोल चला गया था[7]। उसके जैन धर्मानुयायी होने के विषय मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार राईस डेविड्स् के ये विचार ध्यातव्य हैं—चूंकि चन्द्रगुप्त जैनधर्मानुयायी हो गया था, इसी कारण जैनेतरो द्वारा

---

1 C J Shah—Jainism in N India page 128–129
2 वही
3 वही पृ 130
4 मउडधरेसु चरिमोजिणदिक्ख धरिद चदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्ज णेव गेण्हति। तिलोय 4/1481
5 दे बृहत्कथाकोष (हरिषेण) चन्द्रगुप्त कथानकम्।
6 शिलालेख सग्रह (पृ भा डॉ ही ला जैन)
7 दे बुद्धिस्ट इण्डिया पृ 164

वह अगली 10 शताब्दियों तक इतिहास में उपेक्षित ही बना रहा ।[1] "टॉमस ने तो यहाँ तक लिखा है कि" मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त (प्रथम) जैन समाज के महापुरुष थे । जैन-साहिप्यकारों ने चन्द्रगुप्त विषयक कथानक एक स्वयं सिद्ध और सर्व विदित तथ्य के रूप में लिखा है । इसके लिए उन्हें किसी भी प्रकार के अनुमान प्रमाण को प्रस्तुत करने की आवश्यकता का अनुभव नही हुआ । इस विषय में अभिलेखीय प्रमाण अत्यन्त प्राचीन एवं असंदिग्ध है। मेगस्थनीज के विवरणो से भी यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने ब्राह्मणों के सिद्धान्तों के विरोध में श्रमणों (जैनों) के उपदेशों को स्वीकार किया था[2] ।" डॉ० जायसवाल[3] एवं स्मिथ[4] ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किए है ।

चन्द्रगुप्त के दीक्षित हो जाने के वाद उसका पुत्र विन्दुसार मगध की गद्दी पर वैठा । विन्दुसार के विषय में जैन साहित्य में अधिक सामग्री नहीं मिलती । एक ही संकेत मिलता हे कि उसने अपने पिता के समान ही राज्य सीमा वढ़ाकर पुन्नाट-देश के उस हिस्से (श्रवणवेलगोल) को अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न किया था, जहाँ उसका पिता (चन्द्रगुप्त) समाधिस्थ हुआ था । इससे उसके जैन होने का अनुमान किया जा सकता है ।[5]

विन्दुसार के वाद उसका पुत्र अशोकश्री मगध का उत्तराधिकारी हुआ । उसके नाम का उल्लेख तो जैन साहित्य में मिलता है, किन्तु उसके जैनधर्मानुयायी होने का स्पष्ट उल्लेख नही मिलता ।

अशोकश्री के वाद उसके पुत्र नकुल[6] की इच्छा से अशोक ने उसके पुत्र तथा अपने पौत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा सम्प्रति चन्द्रगुप्त को उत्तराधिकारी वनाया । वह जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित था । आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार उसने समस्त जम्बूद्वीप में विशाल जैन-मन्दिरों का निर्माण कराया था ।[7] उसने आचार्य सुहस्ति की प्रेरणा से उज्जयिनी में एक विशाल जैन महोत्सव का भी आयोजन किया था[8] । सम्प्रति चन्द्रगुप्त के वाद मौर्य वंश के अन्य किसी राजा का उल्लेख जैन साहित्य में नही मिलता ।

पाटलिपुत्र के जैनाचार्य—

भद्रवाहु—जैन साहित्य में पाटलिपुत्र के अनेक जैनाचार्यो के उल्लेख भी मिलते हैं । इनमें सर्वप्रथम आचार्य भद्रवाहु (प्रथम) हैं जो मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त (प्रथम) के गुरु थे तथा जिनकी चर्चा पूर्व में हो चुकी है । आचार्य रामचन्द्र मुमुक्षु ने इनका

---

1. दे० बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 164.
2. दे. C J. Shah—Jainism in N, India Page 137.
3. J. B. ORS III P. 452.
4. Early History of India P. 154.
5. C J Shah—Jainism in N. India. P. 139
6. रइधु कृत चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक 9/12.
7. कल्पसूत्र-सुखवोधा टीका—सूत्र 6 पृ. 163. तथा Smith–Early Hist of India P. 202.
8. वही ।

विस्तृत परिचय लिखा है।[1] श्रवणबेलगोल के शिलालेखों मे भी इनका उल्लेख मिलता है।[2] मगध के भयानक द्वादशवर्षीय दुष्काल मे इन्होने 1200 साधुओ के साथ दक्षिण भारत की यात्रा की थी। उसी समय दीक्षित होकर चन्द्रगुप्त भी इनके साथ गए थे।[3]

चाणक्य—आचार्य हरिषेण के अनुसार (बृहत् कथाकोष, 831 ई०) चाणक्य पाटलिपुत्र का निवासी था। उसके माता पिता का नाम क्रमश देवला एव कपिल ब्राह्मण था। वह वेद-वेदाग मे पारगत था। चाणक्य की बुआ बन्धुमति का विवाह नन्दनरेश के कावी नामक मन्त्री के साथ हुआ था। नन्दनरेश द्वारा अपमानित होकर उसने चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) के सहयोग से नन्दवश को समूल नष्ट कर दिया और चन्द्रगुप्त को उसने मगध का प्रभावशाली सम्राट बनाया।

तत्पश्चात् चाणक्य ने जैन दीक्षा ले ली तथा अपने 500 शिष्यों के साथ गतियोग (पैदल) से दक्षिणापथ के वनवासी देश मे पहुचा। वहाँ से विहार करता हुआ वह पश्चिम दिशा मे महाक्रौञ्चपुर के एक गोकुल मे पहुँचा। पूर्व समय के कुछ ईर्ष्यालुओ ने उसके चारों ओर भयकर अग्नि जला दी जिसमे वह अपने सभी शिष्यो के साथ मृत्यु को प्राप्त हुआ।

स्थूलिभद्र—मगध के नन्द नरेश के मन्त्री शकट का यह ज्येष्ठ पुत्र था। मगध के द्वदशवर्षीय भीषण दुष्काल मे ये पाटलिपुत्र ही थे। जैन दीक्षा लेने के पूव इनका मगध सुन्दरी कोशा गणिका के साथ घना प्रेम-व्यापार चलता रहा। किन्तु शीघ्र ही ससार की असारता का अनुभव कर उन्होंने जैन दीक्षा ग्रहण कर ली।

इनके दीक्षागुरु ने उनके ब्रह्मचर्य की परीक्षा लेने के लिए वर्षावास के समय इन्हें कोषा की चित्रशाला मे रुकने का आदेश दिया। स्थूलिभद्र ने अपनी कठोर तपस्या एव दृढ ब्रह्मचर्य से कोशा गणिका को इतना प्रभावित किया कि वह भी श्राविका, साध्वी बन गई।

गुलजारबाग स्टेशन के समीप स्थूलिभद्र का प्राचीन स्मारक आज भी उनके जीवन्त व्यक्तित्व का स्मरण करता रहता है।

उमास्वातिवाचक—उमास्वातिवाचक ने 500 सस्कृत प्रकरणों की रचना की थी। इन्होंने पाटलिपुत्र मे बैठकर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य की रचना की थी। जैनधर्म मे इस ग्रन्थ का वही महत्त्व है जो जैनेतरो मे गीता, बाइबिल, कुरान-शरीफ अथवा गुरुग्रन्थ साहब का है। उक्त ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई विस्तृत टीका है।[4]

आचार्य समन्तभद्र—आचार्य समन्तभद्र उरगपुर (दक्षिण भारत) के नागवशी चोल नरेश कीलिकवर्मन के पुत्र थे। उन्होंने जैन दीक्षा लेकर जैनदर्शन का गहन अध्ययन किया था। समन्तभद्र मगध की सगोष्ठियो एव शास्त्रार्थ परिषदो से अत्यन्त प्रभावित थे। वे स्वय शास्त्रार्थियो को भेरी बजाबजाकर चुनौतियाँ देते थे। 'पाटलिपुत्र

1 पुण्याश्रव कथा कोष मे भद्रबाहु कथानकम्
2 शिलालेख सग्रह प्र भा
3 पुण्याश्रव कथा कोष भद्र कथा
4 विविधतीर्थ कल्प पृ 156

मे आकर भी उन्होंने भेरी बजाकर शास्त्रार्थियों को चुनौति दी थी और शास्त्रार्थ किया था। पाटलिपुत्र के बाद वे शास्त्रार्थ करने के लिए मालवा, सिन्धु, पंजाब, काञ्चीपुर एवं विदिशा गए थे।[1]

भारतीय वाङ्मय में समन्तभद्र ही प्रथम आचार्य है जिन्होंने भ० महावीर की पुण्यभूमि बिहार एवं पाटलिपुत्र की मिट्टी की सुगन्ध से प्रभावित होकर भारतीय राजनीति मे सर्वोदय[2] के समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किया तथा अपने काव्य मे सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग किया जिसे महात्मा गाँधी, बिनोबा एवं जयप्रकाश ने अपने विचारों मे उतारने का अथक प्रयत्न किया।

इस आचार्य का काल दूसरी सदी ईस्वी माना गया है।

उच्च ज्ञान-विज्ञान एवं तकनीकी विद्याका आदर्श-केन्द्र-पाटलिपुत्र—जैसा कि पूर्व मे कहा जा चुका है कि जैनाचार्यो ने पाटलिपुत्र के विविध पक्षों को पूर्णरूप से उजागर कर उसको विश्व के सर्वश्रेष्ठ, सुन्दर, पूर्णविकसित, सुसस्कृत एवं समद्ध नगर के रूप में चिचित करने का सफल प्रयत्न किया है। उसे उच्च शिक्षा के प्रधान केन्द्र[3] के रूप में वर्णित करते हुए बताया गया है कि वहाँ 18 प्रकार की विद्याओ, स्मृतियों एवं पुराणों तथा 72 प्रकार की कलाओं की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। वह भरत, वात्स्यायन एवं चाणक्य रूप रत्नत्रयी के लक्षण ग्रन्थों, यन्त्र, तन्त्र एवं मन्त्र विद्याओं और रसायन विद्या (Chemistry) धातु विद्या (Metallurgy) निधिविद्या (Mints), अजनगुटिका, पाद प्रलेप, रत्नपरीक्षा, वास्तु विद्या, पुरुष, स्त्री, गज, अश्व वृषभादि सम्बन्धी लक्षण-विद्या, एवं इन्द्रजाल आदि ग्रन्थों के ज्ञाता तथा काव्य-रचना मे निपुणता रखने वाले प्रातः स्मरणीय विद्वान पुरुष वहाँ निवास करते थे।[4]

शय्यंभव[5], सुत्थिय[6], महागिरि[7], सुहत्थि[8] एवं पलित्तय[9] जैसे महामति आचार्य पाटलिपुत्र में रहकर ज्ञान-प्रसार करते रहे।

दशपुर के आर्य रक्षित मुनि दीक्षा लेने के पूर्व यहाँ 14 विद्या का अध्ययन करने हेतु आए थे।[10]

नौवें नन्द के राज्यकाल में यहाँ कण्ठ परम्परा से आगत आगमों के संकलन के लिए प्रथम सगोष्ठी हुई थी जो पाटलिपुत्र वाचना के नाम से प्रसिद्ध है।[11]

---

1. विद्वद्रत्न माला—पृ. 166.
2. युक्त्यनुशासन—श्लोक 32.
3. सुयगडंग चूर्णि—पृ. 139, 141.
4. विविधतीर्थ कल्प.
5. उत्तराध्ययन सूत्र टीका. पृ. 105.
6. निशीथचूर्णि तृ. खं. पृ. 423.
7–8. आचारांग निर्युक्ति 1274.
9. आचारांग चूर्णि—1/554.
10. आचारांग चूर्णि 1/401.
11. प्रा. सा. इति.

विद्वानो को आत्मसन्तोष के लिए यहा 84 वाद (शास्त्रार्थ) शालाएँ स्थापित की गई थी ।[1]

काम क्रीडा की शिक्षा का भी पाटलिपुत्र को प्रमुख केन्द्र माना जाता था ।[2]

वास्तु विद्या के क्षेत्र मे—आचाय जिन प्रभसूरि ने पाटलिपुत्र की स्थापना का वर्णन करते हुए बतलाया है कि उस नवीन नगर को सुन्दर बनाने हेतु राजा उदायी ने वहाँ सुन्दर एव विशाल गजशाला, रथशाला, राजप्रसाद, सौध, प्राकार, गोपुर, शस्त्रागार, पायशाला एव औषध शाला का निर्माण कराया । नगर के मध्य मे उसने नेमिनाथ तीर्थंकर का एक सुन्दर चैत्य भी बनवाया था ।[3] बहुत सम्भव है कि लोहानीपुर (पटना) के उत्खनन मे जो मन्दिर एव मूर्ति के भग्नावशेष मिले हैं, वे उदायी द्वारा ही निर्मित हो ।

उन्नत व्यापार के क्षेत्र में—पाटलिपुत्र अपनी सुदृढ एव केन्द्रवर्ती स्थिति के कारण पूर्वी, पश्चिमी एव उत्तरी भारत के लिए प्रवेशद्वार के समान था । गगा तट पर बसे रहने के कारण जलीय माग का यह प्रमुख व्यापारिक केन्द्र बन गया था । चम्पा, वाराणसी एव कौशाम्बी जैसे औद्योगिक एव व्यापारिक प्रसिद्ध नगरो से पाटलिपुत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध था ।[4]

यह उत्तरापथ के स्थलीय मार्ग का भी प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था । यहाँ की उत्पादित सामग्री सुवर्णभूमि (बर्मा) ले जाई जाती थी ।[5] पाटलिपुत्र, राजगृही एव उसके आस पास के प्रदेशो में रत्नकम्बल का भी व्यापार होता था ।[6]

विनिमय का साधन—पाटलिपुत्र मे आदान-प्रदान के लिए चाँदी के सिक्के का प्रचलन था जो पाटलिपुत्रक[7] अथवा कुसुमपुरक के नाम से प्रसिद्ध था । यह सिक्का उत्तरापथ में प्रचलित दो स्थावरक[8] अथवा दिविच्चग के बराबर तथा कांचीपुरी के 2 नेलक[9] (सिक्के) के बराबर होता था । सिक्के का मूल्य देखकर विदित होता है कि उत्तर तथा दक्षिण भारत में पाटलिपुत्रक की अच्छी साख थी ।

पाटलिपुत्र के निवासियों की सुन्दरता एव सौन्दर्य-प्रेम—पाटलिपुत्र के निवासियों को मथुरा के लोगों से भी अधिक सुन्दर माना गया है । वे स्वभावत प्रकृति प्रेमी एव सौन्दर्य प्रेमी थे । वे सुन्दर भवनों मे रहते थे । अपने भवनो के चारों ओर सुन्दर वाटिकाए लगाते थे और पक्षो मे सुन्दर चित्र एव एव मूर्तियाँ सजाते थे । उनकी पोशाकें आकर्षक होती थी । पोशाका का अन्तर्राष्ट्रिय व्यापार भी होता था ।[10]

---

1 विविधतीर्थ कल्प
2 सूत्र कृतांग वृत्ति शीलाक पृ 111
3 विविधतीर्थ कल्प
4 निशीथसूत्र तृ ख गाथा 4210
5 Dr D C Jain—Economic Life in Ancient India as depited in Jain Canonical Literature P 70
6 विविधतीय कल्प
7–9 Economic Life in Ancient India (Jain) P 97
10 आचाराग वृत्ति (शीलाक) पृ 97

जनसंख्या की उत्पादन-दर—पाटलिपुत्र की वढ़ती हुई जनसंख्या के विषय में एक मनोरंजक उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार वहाँ प्रतिदिन इतने वच्चों का जन्म एवं मुण्डन होता था कि उनके केशों से पाटलिपुत्र को चारों ओर से वेढ़ा जा सकता था।[1]

पाटलिपुत्र के श्रेष्ठियों की समृद्धि—पाटलिपुत्र मे प्रायः सभी लोग समृद्ध थे। दो सहस्रयोजन की यात्रा में हाथी के जितने पैर पड़ें उनमे से प्रत्येक के पैर के गड़े को 1–1 सहस्र स्वर्ण मुद्रा से पाटलिपुत्र का कोई भी व्यक्ति भर सकता था।[2]

एक आढ़क तिलो के वोए जाने पर उनमें जितने तिल फल सकें, उतनी स्वर्ण मुद्राएं वहाँ के धनियों के घरों में सामान्य रूप से वर्तमान रहती थी।[3]

घी एवं मक्खन तो पाटलिपुत्र मे इतना अधिक होता था कि उससे किसी भी वेगवती पहाड़ी नदी को रोकने के लिए वाँध वनाया जा सकता था।[4]

वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के धन-धान्य उत्पन्न होते थे। गर्दमिक नामक एक ऐसी धान उत्पन्न होती थी जो वार-वार लुनते-खोटते रहने पर भी वह अपने आप वार-वार उत्पन्न होकर धान देने लगती थी।[5]

पाटलिपुत्र के 5 स्तूपों में नन्द राजाओं की 99 कोटि स्वर्ण मुद्राएं सुरक्षित है। लक्षणावती के सुलतान ने उन्हे प्राप्त करने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु वह असफल रहा।[6]

इस प्रकार जैन साहित्य मे उपलब्ध मगध एवं पाटलिपुत्र सम्बन्धी विविध विषयक सन्दर्भो के विषय मे यहाँ संक्षिप्त चर्चा की। ये सन्दर्भ अन्तिम नहीं है। अत्यल्प है एवं नमूना स्वरूप ही यहाँ प्रस्तुत किए गए है। इनके अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थो, शिलालेखों एवं ग्रन्थ-प्रशस्तियों मे भी वे उपलब्ध है किन्तु स्थानाभाव से यहाँ उनका उपयोग नही किया गया है। निष्कर्ष रूप मे इतना अवश्य ही माना जा सकता है कि प्राचीन विहार का सर्वांगीण प्रामाणिक अध्ययन प्राकृत एवं संस्कृत के जैन-साहित्य के विना सम्भव नही हो सकता। इस विषय मे मैं प्राचीन भारतीय एव एशियाई संस्कृति के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रो० डा० उपेन्द्र ठाकुर (मगध वि. वि) के निम्न कथन[7] के साथ अपना यह शोध निवन्ध समाप्त करता हूँ—

"While Literary (Mainly Sanskrit & Pali) and archaeological sources have been fully exploited in re-Constitnting the history of Ancient India by historians, the latter have been indifferent towards the Jaina sources which Constitute a veritable mine of informations and offer a vast field of reseanch into various facets of our early history and Cultnre. In fact, a Comprehensive and aulthenfie history of early India can be possible only when a scientific and analyt cal study of these sources is objectively attempted. For long such a stndy remained neglected, but of lato scholars have tahen up this challange which is now gradully yeilding fascinating results enriching various branches of Indological studies."

अध्यक्ष, संस्कृत-प्राकृत विभाग,
ह. दा. जैन कालेज, आरा (विहार)

1–6. विविधतीर्थ कल्प

7. डॉ. राजाराम जैन द्वारा सम्पादित महाकवि रइधू कृत 'भद्रबाहु चाणक्य चन्द्रगुप्त कथानक' एवं राजा कल्कि वर्णन के Forewurd से उद्धृदत पृ. स. 7.

द्वितीय खण्ड

धर्म एवं साहित्य

नियमसार : एक सर्वेक्षण

☐ डा० दामोदर शास्त्री

1. नियमसार—भागवत शास्त्र है :

प्रस्तुत ग्रन्थ 'नियमसार' को 'भागवत शास्त्र' कहा गया है।[1] इस कथन के पीछे कई कारण है। एक कारण तो यह है कि इस ग्रन्थ की रचना 'भगवान्' आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा हुई है,[2] और इसका सम्बन्ध भी, श्रुतकेवली एवं जिनागमाभ्यासी आचार्यो की परम्परा के माध्यम से, 'भगवान्' केवली-तीर्थंकर[3] की दिव्यध्वनि (जिन-वाणी) से है।[4] दूसरा कारण यह है कि इस ग्रन्थ में 'भगवत्-तत्त्व' का वर्णन है। वास्तव मे यह बताया गया है कि 'भगवान्' की आराधना द्वारा 'भगवान्' कैसे बना जाता है। इस ग्रन्थ में शब्दब्रह्म'[5] अवतरित हुआ है, जिसे हृदयंगम करने से 'परब्रह्म' स्वरूप की

---

1. भागवतं शास्त्रमिदम् (नियमसार–187 गाथा पर तात्पर्य वृत्ति)।

2. भगवतां सूत्रकृतामभिप्राय: (नियमसार–42 पर ता. वृ.), भगवतो ह्याचार्या. (नियमसार–73 पर ता. वृ.)।

3. केवली भगवं (नियमसार–गाथा–166)।

4. जिनोपदेशं वीतराग-सर्वज्ञमुखारविन्द-विनिर्गतपरमोपदेशम् (नियमसार 187 पर ता. वृ.)। केवलिमुखारविन्दविनिर्गतो दिव्यध्वनिरनीहात्मक: (नियम 173-174 पर ता. वृ.)।

5. भागवतं शास्त्रमिदं······ ये खलु······जानन्ति, ते खलु······शब्दब्रह्म-फलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्ति (नियमसार–187 पर ता. वृ.)। भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्काराङ्केतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म (प्रवचनसार–1/34 पर तत्वदीपिका)। स्यात्पदमुद्रित-शब्दब्रह्मोपासनजन्मा (समयसार 5 पर आत्मख्याति)।

तुलना—पचास्तिकाय 172 पर आत्मख्याति। शब्दब्रह्मप्रमाण शास्त्रमिदम् (समयसार–10/415 पर आत्मख्याति)। श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन······भूतार्थस्वसंवेद्यदिव्यज्ञानानन्द-स्वभावम् अननुभूतपूर्वं भगवन्तम् आत्मानमवाप्नोति (प्रवचनसार–3/75 पर तत्त्वदीपिका)।

प्राप्ति होती है।[1] वैदिक परम्परा के विष्णु पुराण मे वर्णित 'शब्दब्रह्म' व 'परब्रह्म' का स्वरूप बहुत अशो मे जैन परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है। विष्णु पुराण के अनुसार, आगम-निहित ज्ञान 'शब्दब्रह्म' है, और सूयप्रकाशवत् (सकलप्रत्यक्षकारी) योगज ज्ञान (विवेकज ज्ञान) 'परब्रह्म' है[2] (जो जैन परम्परा के चरम लक्ष्य 'कार्य समयसार' के बहुत निकट प्रतीत होता है।)[3]

'भग' शब्द स कई अर्थों का बोध होता है। वे हैं—(1) ऐश्वर्य (2) धर्म (3) यश (4) श्री (5) ज्ञान (6) वैराग्य (7) समृद्धि (8) बल आदि।[4] इसलिए 'भगवान्' शब्द से अनन्तज्ञानादि-विभूति-सम्पन्न[5] तथा स्वशुद्धस्वरूपस्थिति[6] ('काय समयसार') अर्थ व्यक्त होता है। भगवान्, परमात्मा, परम अद्वैत तत्त्व—ये सभी समानार्थक हैं।[7] दूसरे शब्दो मे 'भगवान्' पद से 'काय समयसार' (चरम लक्ष्य—पूर्ण वीतराग स्थिति) के साथ-साथ, 'कारण समयसार' (आराध्य/आश्रयणीय शुद्धात्म-तत्त्व) का भी बोध होता है।[8]

---

1 तस्मिन् सिद्धे भगवति परब्रह्मणि ज्ञानपुंजे, वाचि मुक्तिर्भवति वचसां मानसाना च दूरम् (नियमसार–ता वृ, श्लो स 301)।
तुलना—शब्दात्पदप्रसिद्धि, पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति। अर्थात्तत्त्वज्ञान तत्त्वज्ञानात्पर श्रेय (धवला पु 1, पृ 10)।
तुलना—प्रेमानन्दफलप्रद श्रीमद्भागवत शास्त्रम् (भागवत पु महात्म्य–4/48)। श्रीमद्-भागवतप्राप्तौ सुख प्राप्स्यन्ति शाश्वतम् (भागवत पु माहात्म्य–3/62)।

2 आगमात्य विवेकाच्च, द्विधा ज्ञान तदुच्यते। शब्दब्रह्मागममय पर ब्रह्म विवेकजम्। यथा सूर्य-स्तथा ज्ञान यद्विप्रर्षे विवेकजम् (विष्णु पुराण–6/5/61–62)।
तुलना - नियमसार 187 पर तात्पयवृत्ति, तथा पचास्तिकाय 172 पर आत्मख्याति।

3 तद्ब्रह्म तत्पर धाम, तद् ध्येय मोक्षकाक्षिभि (विष्णु पु 6/5/68)।
तुलना—शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकायसमयसारस्योपाद (प्रवचनसार–2/3 पर तात्पर्यवृत्ति)।

4 ऐश्वयस्य समग्रस्य वीयस्य यशस श्रिय। ज्ञानवैराग्ययोरेव षण्णा भग इतीरणा (विष्णु पु 6/5/74)॥ ज्ञान समृद्धि सम्पत्तियशश्चैव बल भग (देवी भागवत–9/2/111)।

5 उत्पत्ति प्रलय चैव भूतानामागति गतिम। वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवानिति (विष्णु पु 6/5/78)॥ निस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा (नियमसार–7)॥ भगवान् महन् परमेश्वर (नियमसार–7 पर ता वृ)।

6 भगवत स्वस्वरूपे तिष्ठन्ति (नियम 183 पर ता वृ)।

7 तदेव भगवद्वाच्य स्वरूप परमात्मन। वाचको भगवच्छब्द तस्याद्यस्याक्षयात्मन (विष्णु पु 6/5/69)॥

8 निकाननिरावरण नित्यानन्दैकस्वरूप-निजकारणपरमात्मभावनोत्पन्न-कायपरमात्मा (नियम 7 पर ता वृ)। सहजज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहजपरमवीतरागसुखात्मकस्य शुद्धान्तस्तत्त्व-स्वरूपस्य आधार सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण-कारणसमयसार इति (नियम 50 पर ता व)।

2. भागवत पुराण और 'नियमसार' :

वास्तव में, 'भागवत शास्त्र' वह होता है जिसमें शुभाशुभ-भावना-निर्मुक्त वीतराग अखण्ड-अद्वैत परम तत्त्व को स्वानुभूतिगम्य बनाने (अर्थात् शुद्धात्मानुभूति) का उपाय बताया गया हो। साथ ही, स्वर्ग जैसे सुख को भी सांसारिक कोटि में रखते हुए उसे तुच्छ व हेय बताकर, वीतराग परम तत्त्व की उपादेयता तथा 'परमार्थ धर्म' (निश्चय धर्म) की श्रेष्ठता प्रतिपादित की जाती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि 'भागवत शास्त्र' का उक्त स्वरूप जैन व वैदिक दोनों परम्पराओं में मान्य रहा है। यही कारण है वैदिक परम्परा के 'भागवत पुराण' की 'भागवत शास्त्र' संज्ञा रखी गई है।[1] भागवत पुराण के प्रारम्भ में, स्वप्रतिपाद्य विषय का संकेत करते हुए, स्पष्ट निर्देश किया गया है कि "इस ग्रन्थ में निश्छल 'परम धर्म' का निरूपण है तथा मात्सर्यादि दोषरहित साधु जन जिस तत्त्व का स्वसंवेदन करते हैं, वह (भी) यहां निरूपित है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से सभी (तीनों) तापों (दुखों) का उन्मूलन होता है।"[2] टीकाकारों ने यहां 'निश्छल' शब्द का अर्थ—'स्वर्गसुखादि-इच्छा से रहित तथा 'वास्तविक' पद का अर्थ– परमार्थतया संवेद्य' किया है।

तात्पर्य यह है कि 'भागवत शास्त्र' संज्ञा 'नियमसार' के लिए इसलिए भी सार्थक है कि वैदिक परम्परा के 'भागवत पुराण' से यह ग्रन्थ काफी समानता धारण करता है। उस समानता या सादृश्य पर आचार्य पद्मप्रभ मलधारी (ई. 12वीं शती) जैसे विद्वान् का ध्यान गया और उन्होंने 'नियमसार' की 'भागवत शास्त्र' संज्ञा रखकर अपनी व्यापक विद्वत्ता का परिचय प्रस्तुत किया है। वैदिक परम्परा के 'भागवत पुराण' तथा जैन परम्परा के 'नियमसार' की समानता पर यदि लिखना प्रारम्भ किया जाय तो एक स्वतन्त्र निबन्ध लिखा जा सकता है, किन्तु कुछ मूल बातों पर पाठकों का दृष्टिपात कराना अप्रासंगिक न होगा। संक्षेप में, उक्त दोनों में परमार्थ धर्म तथा शुद्धात्मानुभूति के मार्ग (उपाय) का वर्णन है। यहां यह उल्लेखनीय है कि वैदिक परम्परा के 'भागवत पुराण' में श्रीकृष्ण व राधिका आदि गोपियों के प्रेम-प्रसंग का जो वर्णन है वह अपने में विविध संसारी आत्माओं व परमात्मा के परस्पर सुखद मिलन/योग/सम्बन्ध को गूढ़ रूप में समेटे हुए है। सामान्य जन इसे सामान्य प्रेम की अश्लील घटना-मात्र समझ कर सन्तुष्ट हो जाता है, किन्तु स्वयं भागवत पुराणकार द्वारा किये गये स्पष्टीकरण के प्रति उनका ध्यान आकृष्ट नहीं होता। पुराणकार ने स्पष्ट भी किया है कि 'राधिका' और कुछ नहीं, [परम] आत्मा है. इसी तरह श्रीकृष्ण को योगीश्वर व आत्माराम व्यक्तित्व का प्रतीक समझना चाहिए।[3]

---

1. श्रीमद्भागवतं शास्त्रम् (भागवत पुराण, महात्म्य–3/12, 3/15)।
2. धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्। वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम्। श्रीमद्भागवते महामुनिकृते (भागवत पु 1/1/26)।।
3. कृष्ण. सदानन्दांगविग्रहः। आत्मारामश्चाप्तकामः प्रेमावतैरनुभूयते ॥ आत्मा तु राधिका तस्य, तयैव रमणादसौ। आत्मारामतया प्राज्ञैः प्रोच्यते गूढवेदिभिः (भागवत पु. महात्म्य–1/21-22) ॥ आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका (भाग. पु. माहात्म्य–2/11)। योगेश्वरेण कृष्णेन (भागवत पु. 10/33/3)। द्र. भागवत पु. 10/69/33, 10/69/36।

भागवत पुराण मे यह भी स्पष्ट प्रतिपादित है कि 'आत्माराम' सज्ञा श्रमणो (जैन मुनियो) की है।[1]

वैदिक भागवत पुराण मे राधा योगीश्वर कृष्ण की प्यारी है,[2] तो नियमसार का तत्त्वज्ञानी 'राध' (या राधा, भक्ति, अर्थात् शुद्धात्माराधना, शुद्धात्मरुचि, शुद्धात्मप्राप्ति की साधना)[3] रूपी 'निश्चय प्रतिक्रमण' (सतत् अन्तर्मुखी परिणाम) से सदा तन्मयता रखना चाहता है।[4] वैदिक भागवत पुराण की 'राधा' जैन परम्परा की 'शुद्धात्मसवित्ति' ही है, क्योकि उसे 'वृषभानुजा' (वृषभानु की पुत्री) कहे जाने मे ही उक्त गूढ अर्थ छिपा हुआ है। वृष यानी धर्म, शक्तिशाली आदि, भानु यानी सूर्य, किरण, स्वामी, राजा आदि। 'जा' यानी उत्पन्न। 'वृषभानुजा' का अर्थ होगा–'धर्म-साधना मे अग्रगण्यता/ईश्वरत्व प्राप्ति के साथ उत्पन्न होने वाली'। जैन सन्त कविवर बनारसीदास जी ने तो राधिका को 'सुबुद्धि' (या निश्चय सम्यक्त्व) बताते हुए उसके सेवन को परम सुख व आनन्द का जनक बताया है।[5] जैन परम्परा मे मुमुक्षु साधक आत्मरति हेतु, या मुक्ति / सिद्धि रूपी रमणी के साथ सुखद सयोग के लिए लालायित रहता है,[6] तो भागवत पुराण मे कृष्ण व गोपी (राधा आदि) जनो की 'रासलीला' वर्णित है।[7] भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण स्वय कहते हैं कि मुझे किसी बात को गुप्त रूप से कहना अच्छा लगता है,[8] इसलिए 'रासलीला' के माध्यम से 'अध्यात्म-

1 आत्मारामा समदृश प्रायश श्रमणा जना (भागवत पु 12/3/19)।

2 द्रष्टव्य–भागवत पु माहात्म्य–2/11–12, ब्रह्मवैवर्त पुराण–श्रीकृष्ण खण्ड (4)/6/56, वही–पाताल खण्ड (5)/69/117–118,

3 समिद्धिराधसिद्ध साधियमाराधिय च एयट्ठ (समयसार–7/304)। शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजन भक्तिराराधनेत्यर्थ। परमतपोधनाश्च रत्नत्रयभक्ति कुर्वन्ति। तेषा परमश्रावकाणा निर्वृतिभक्तिरपुनर्भवपुरन्ध्रिकासेवा भवति (नियम 134 पर ता वृ)।

4 आराहणाइ वट्टइ मोत्तूण विराहण विसेसेण। सो पडिकमण उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा (नियमसार–84)॥ शुद्धात्माराधनाव्यतिरिक्त सर्वोऽप्यनाचार (नियम 85 पर ता वृ)।

5 यातै सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है (समयसार नाटक, सर्व विशुद्धाधिकार, 75) जाकै हिरदै राधिका सो बुध सम्यक् ज्ञान (वही, 81)।
तुलना– शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति (प्रवचन 2/8 पर ता वृ)। निजशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नरागादि विकल्पोपाधि रहित परमसुखामृतानुभावेन (प्रवचन 2/104 पर ता वृ)।

6 परमजिनयोगीश्वर निर्वाणवामलोचनासभोगसौख्यमूलमनवरत साधयेत् (नियम 155 पर ता वृ) ये लोकाग्रनिवासिनो भवभवक्लेशार्णवान्त गता, ये निर्वाणवधूटिकास्तनभराश्लेषोत्थ सौख्याकरा (नियम 135 पर ता वृ मे श्लो स 224)।

7 इति विक्लवित तासा श्रुत्वा योगेश्वरेश्वर। प्रहाय सदय गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् (भागवत पु 10/29/42)॥ द्र भागवत पु 10/33 अध्याय (महारास)।

8 परोक्षवादा ऋषय परोक्ष मम च प्रियम् (भागवत पु 11/21/35)।
तुलना– परोक्षप्रिया हि देवा (ऐतरेय ब्राह्मण–3/33, ऐत उपनिषद्–1/3/14, गोपथ ब्राह्मण–1/1/1)।

रति' की उपादेयता भागवत पुराण में प्रतिपादित की गई है और इसी 'अध्यात्म-रति' की प्रेरणा आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र दी है।[1] भागवत पुराण में परमात्मा अवतरित होते है,[2] नियमसार के अध्येता को भी यह प्रेरणा दी गई है कि वह अपने मानस-पटल पर, ध्यान के माध्यम से परमात्मा को उतारे (अवतरित करे)।[3] भागवत पुराण में 'धर्म' का स्वरूप बड़े ही सरल शब्दो में कहा गया है कि ज्यो-ज्यों और जितना-जिनना व्यक्ति ससार से निरासक्त होता जाएगा, उतना ही वह विमुक्ति (स्वरूपस्थिति) की ओर बढता जाएगा,[4] किन्तु इस निवृत्ति के साथ-साथ आत्म-तत्त्व का सम्यक् ज्ञान भी होना जरूरी है,[5] और वह यह कि आत्मा अगुण, स्वयं ज्योति व शुद्ध है,[6] सर्वसंगत्याग[7] तथा समताभाव-धारण[8]—ये मुक्ति-पात्रता है। नियमसार में भी उक्त सारी बातें सार रूप में वर्णित की गई है। यह भी सम्भव है कि श्रमण परम्परा का प्रभाव भागवत पुराण पर पड़ा हो। इस सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि मध्यकाल में जब भागवत धर्म आध्यात्मिकता से कुछ हटकर अवतारवाद व व्यक्ति-पूजा के पक्षधर के रूप में समृद्धि या ख्याति प्राप्त कर रहा था, जैन आचार्यो ने सामान्य जनता को 'भागवत शास्त्र' के 'परमार्थ' से परिचित कराने की दृष्टि से नियमसार (आदि) ग्रन्थों के प्रति आकृष्ट करते हुए, इस ग्रन्थ की 'भागवत शास्त्र' संज्ञा प्रस्तुत की हो।

---

1. द्र० नियमसार–95–99, 102, 146, मोक्ष प्राभृत–12, 16, 69, 83, भाव प्राभृत 85 आदि–आदि।
2. संस्थापनाय धर्मस्य, प्रशमायेतरस्य च। अवतीर्णो हि भगवान् अशेन जगदीश्वरः (भागवत पु. 10/33/27) द्र० भागवत पु० 11/6/22–23, 10/1/9, 16.
3. सुहअसुहवयणरयण रायादीभाववारणं किच्चा। अप्पाण जो झायादि तस्य दु णियमं हवे णियमा (नियम. 120)। द्र. नियमसार–120–123, वचनरचनां व्यक्त्वा भव्यः शुभाशुभलक्षणा सहजपरमात्मानं नित्यं सुभावयति स्फुटम् (नियमसार–120 पर ता. वृ. मे श्लो. सं. 191)। सहजपरमसौख्यं चिच्चमत्कारमात्रं स्फुटित निजविलासं सर्वदा चेतयेऽहम् (नियम. 121 पर ता. वृ. मे श्लो. सं. 197)।
4. यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः। एष धर्मो नृणां श्रेयः शोक मोहभयापह (भागवत पु. 11/21/18)॥
   तुलना—नियमसार –75, 95 आदि।
5. हित्वाऽऽत्मसन्देहमुपारमेत स्वानन्द तुष्टोऽखिलकामुकेभ्य. (भागवत पु. 11/28/23)।
   तुलना—नियमसार–तात्पर्यवृति मे श्लो. सं. 80, 106, 109, आत्मानुशासन–226,
6. भागवत पु. 11/28/11, 11/28/35 आदि।
   तुलना—नियमसार–38–46, 48, 165 आदि।
7. भागवत पु. 11/28/27,
   तुलना—नियमसार–60, 75 आदि।
8. भागवत पु. 11/28/8–9,
   तुलना—नियमसार–44, 82, 104, 109, 110 आदि।

4 भारतीय सस्कृति और साहित्य मे 'नियम', और नियमसार' का प्रतिपाद्य विषय

सर्वप्रत्यक्षदर्शी (केवली तीर्थङ्कर) तथा सर्वशास्त्रज्ञ (श्रुत केवली) आचार्यों द्वारा जैन अध्यात्म-साधना का जो स्वरूप परम्परागत रूप से प्रतिपादित होता रहा है, उसे ही सक्षेप मे आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने प्रस्तुत किया है।[1] सम्पूर्ण जिनशासन का सार दो शब्दो मे समाविष्ट है-मोक्ष और मोक्षोपाय।[2] इन दोनो को भी एक शब्द से कहा जा सकता है। वह है—'नियम'। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार, यहा 'नियम' पद से 'नियम' तथा 'नियमाश्रित कार्य—दोनो का बोध अभीष्ट है।[3]

जैन-परम्परा मे 'नियम' का अर्थ है—शुद्ध आत्म-स्थिति (या परम पारिणामिक पचम भाव, जिसे 'कारण नियम' कहा जाता है)।[4]

भारतीय सस्कृति मे 'पुरुपार्थ' ही करने योग्य' माना जाता है।[5] पुरुपार्थों की सख्या चार है—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष।[6] आध्यात्मिक साधना मे चरम पुरुपार्थ 'मोक्ष' ही ग्राह्य है।[7] 'पुरुपाथ' से तात्पर्य है - व्यक्ति के आचरणो के पीछे निहित उद्देश्य। वह लक्ष्य जिस पर व्यक्ति का धर्माचरण केन्द्रित रहता है। 'नियम' का स्वरूप पहले बताया जा चुका है। अत 'नियम से कार्य' का अर्थ है—'नियम' (परम पारिणामिक भाव) पर आश्रित पुरुपार्थ। उक्त 'नियमाश्रित पुरुपाथ' है—मोक्षोपायभूत रत्नत्रय[8] (ज्ञान-दशन-चारित्र) के पूर्णत्व की प्राप्ति (जिसे 'काय नियम' कहा गया है)। रत्नत्रय-पूणता की प्राप्ति का प्रयोजन रख कर 'नियम' (परम पारिणामिक भाव) का आश्रय लिया जाता है और यही 'रत्नत्रय' की नियमाश्रितता है।

जैसे मार्ग का अन्तिम छोर ही साधक की मजिल कही जाती है, इस दृष्टि मे मोक्ष-मार्ग (रत्नत्रय की पूर्णता) तथा मोक्ष—

---

1. नियमसार-गाथा-1 तथा, उस पर तात्पयवृति टीका।
2 मग्गो मग्गफल ति य दुविह जिणसासणे समक्खाद। मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फल होदि णिव्वाण (नियमसार-2)॥
3 णियमेण य ज कज्ज त णियम (नियमसार-3)।
4 य सहज परमपारिणामिकभाव स्थिति स्वभावानन्त चतुष्टयात्मक शुद्धज्ञान चेतनापरिणाम स नियम (नियमसार-3 पर ता वृ)।
5 पुरुषैरर्थ्यते स पुरुषार्थ।
6 त्रिवर्गो धर्मकामार्थै चतुवर्ग समोक्षकै (अमर कोश-2/7/57)। पुरुषार्थस्य धर्मार्थकाम-मोक्षरूपत्वात् (मूलाचार-1 पर आचारवृत्ति)। द्र० ज्ञानार्णव-3/4,
7 तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते (भागवत पु 4/22/35)। धर्मार्थकाममोक्षाणा मोक्षारत्यमेव कार्य पर कार्यम् (प्रशमरति प्रकरण 148 पर आ हरिभद्र कृत टीका)। उपाय मोक्षमुत्तमम् (आदि पु 47/316)।
8 नियमेन च निश्चयेन यत्कार्य प्रयोजनस्वरूप ज्ञानदर्शनचारित्रम् (नियम 3 पर ता वृ)। नियम-शब्दस्य निर्वाण-कारणस्य (वहीं)। णियम मोक्खउवाओ (नियम 4)। भवति नियम शुद्धो मुक्त्यगना सुखकारणम् (नियम 120 पर ता वृ मे श्लोक स 191)।

दोनों की एकता कही जा सकती है।[1] इस प्रकार, 'नियम' में मोक्षोपाय व मोक्ष—दोनों का समावेश हो जाता है। मोक्ष नियमतः (ग्रावश्यक रूप से) प्राप्त करने योग्य है[2] तो मोक्षोपाय (रत्नत्रय) नियमतः करने या ग्राचरण में लाने एवं जानने योग्य है।[3] उक्त दोनों का (मोक्ष व मोक्षोपाय-रत्नत्रय का) प्रस्तुत ग्रन्थ 'नियमसार' में निरूपण हुग्रा है। ग्रत. यह ग्रन्थ 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है ग्रौर यही कारण है कि इस ग्रन्थ को ग्राचार्यो ने 'परमागम' नाम से विभूपित किया है।[4]

(4) वैदिक परम्परा में 'नियम' का स्वरूप

भारतीय संस्कृति मे 'नियम' शब्द काफी चर्चित रहा है। वैदिक व श्रमण—दोनों संस्कृतियों में 'नियम' का प्रयोग ग्राध्यात्मिक साधना ग्रौर सामान्य जन-जीवन में होता रहा है ग्रौर इसी से इसका महत्व स्वतः ख्यापित हो जाता है। दोनों संस्कृतियों के सन्दर्भ में 'नियम' शब्द के ग्रर्थ की व्यापकता व उसके हार्द को प्रस्तुत करना प्रसंगोचित होगा, साथ ही दोनों संस्कृतियों के परस्पर तुलना व समीक्षा के लिए भी उपयोगी है।

वैदिक परम्परा मे 'ग्रष्टांग योग' के ग्रन्तर्गत यम व नियम का महत्त्वपूर्ण स्थान हे।[5] ग्रहिसा, सत्य, ग्रचौर्य, ब्रह्मचर्य व ग्रपरिग्रह–ये पांच 'यम' है।[6] शौच, सन्तोष, स्वाध्याय, तप, देवताप्रणिधान—ये पांच 'नियम' है।[7]

यहां यह उल्लेखनीय है कि नियमों की संख्या घटती-बढ़ती रही है। गरुडपुराण में स्नान, मौन, उपवास, इज्या, स्वाध्याय, इन्द्रिय-निग्रह तप, ग्रक्रोध, गुरु-भक्ति, शौच—इन दश को 'नियम' के रूप मे मान्य किया है।[8] भागवत पुराण मे यमों व नियमों की संख्या को बारह-बारह तक पहुचा दिया गया है।[9] उनके नाम इस प्रकार हैं—

---

1. चारित्रमपि निश्चयज्ञानदर्शनात्मक. कारणपरमात्मनि ग्रविचल स्थितिरेव (नियम. 3 पर ता. वृ.)।
2. पीछे टिप्पण सं. 3 देखें।
3. दंसणणाणचरित्राणि सेविदव्वाणि साहुणाणिच्च (समयसार-1/16)। दंसणणाणचरित्तं तिण्णि वि जाणेह परमसद्धाए (चारित्र-प्राभृत-40)। जेण य लहेह मोक्खं तं जाणिज्जह पयत्तेण (सूत्र प्राभृत-16)।
4. नियमसाराभिधान परमागमं वक्ष्यामि (निमय. 1 पर ता. वृ.)/शुद्धः परमागम इति परिकथितः। तेन परमागमामृतेन (नियम. 8 पर ता. वृ.)/
5. योग सूत्र (पातंजल)–2/29,
6. ग्रहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (योगसूत्र–2/30)/ द्रष्टव्यगरुड पुराण–1/49/29–30,
7. शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः (योग सूत्र–2/32)/ द्र. गरुड पुराण 1/49/31–32, ग्रग्नि पुराण–161/20, कूर्म पुराण–(उत्तरार्ध 11/20)
8. स्नान मौनो पवासेज्या स्वाध्यायेन्द्रियनिग्रहाः। तपोऽक्रोधो गुरोर्भक्तिः शौचं च नियमाः स्मृताः गरुड पुराण—1/105/57) ॥
9. शौच जपस्तपो होमः श्रद्धाऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः (भागवत पुराण–1 /19/34) ॥

द्विविध शौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, भगवत्पूजा तीर्थ-यात्रा, परोपकार, सन्तोष व गुरु-सेवा। शाण्डिल्योपनिषद् तथा हठयोगप्रदीपिका के अनुसार, तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजा, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री, मति, जप, व्रत-ये दस 'नियम' हैं।[1] देवी भागवत में भी नियमों की संख्या दस बताई गई है, वे नियम हैं—सन्तोष, आस्तिकता, दान, देवपूजन, वेदान्तश्रवण, दुष्कर्म-त्याग, सरलज्जा, सन्मति, गायत्री आदि का जप, तथा नित्य-होम।[2] लिङ्गपुराण में शौच, इज्या, तप, दान, स्वाध्याय, उपस्थ-निग्रह, व्रत, उपवास, मौन तथा स्नान—इन दस नियमों का उल्लेख है।[3] विष्णु पुराण में स्वाध्याय, शौच, सन्तोष, तप व आत्म-नियमन—ये पाच नियम बताये गए हैं।[4] इन नियमों का यदि निष्काम भावना से सेवन किया जाय तो मुक्ति मिलती है, किन्तु सकाम भावना से विशिष्ट फल की प्राप्ति होती है।[5]

अग्निपुराण में व्रत, नियम व तप—इन्हें एक ही स्वीकारा गया है।[6]

स्कन्दपुराण में शौच, तुष्टि, तप, जप, गुरुभक्ति[7], तथा शिवपुराण में शौच, तुष्टि, तप, जप, प्रणिधान[8]—ये पाच नियम कहे गए हैं।

वैदिक परम्परा में स्वीकृत उक्त सभी नियमादि योगाग (यम-नियम-आसन आदि) जैन-परम्परा में भी स्वीकृत हैं,[9] उनकी संख्या

1 तप सन्तोषास्तिक्यदानेश्वर पूजनसिद्धान्त श्रवण ह्रीमतिजप व्रतानि दश नियमा (शाण्डिल्योप 1/2)। तप सन्तोष आस्तिक्य दानमीश्वर पूजनम्। सिद्धान्तवाक्यश्रवण ह्रीमती च तपोहुतम् नियमादश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदै (हठयोगप्रदीपिका-1/18) ॥

2 देवी भागवत-7/35/6-7

3 लिंग पुराण-8/10 19,

4 स्वाध्याय शौचसन्तोषतपासि नियतात्मवान् (विष्णु पुराण 6/7/37)।

5 एते यमा सनियमा पञ्च, पञ्च च कीर्तिता। विशिष्टफलदा काम्या निष्कामाना विमुक्तिदा (विष्णु पुराण 6/7/38) ॥

6 शास्त्रोदिता हि नियमो व्रत तच्च तपो मतम्। नियमस्तु विशेषास्तु व्रतस्यैव दमादय ॥ व्रत हि कर्तृ सन्तापात्तप-इत्यभिधीयते। इन्द्रिय ग्रामनियमात् नियमश्चाभिधीयते (अग्नि पुराण-175/2-3) ॥

7 स्कन्द पुराण माहेश्वर खण्ड (कुमारिका खण्ड) 55/14-25।

8 द्र० शिव पुराण (उत्तर खण्ड) 37 अध्याय।

9 (क) यमनियम नितान्त शान्तबाह्यान्तरात्मा, परिणमितसमाधि सर्वसत्त्वानुकम्पी। विहितहित-मिताशी क्लेशजाल समूल दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसार (आत्मानुशासन-225) ॥

(ख) दृष्टिवाद के पूर्वगत भेद के अन्तर्गत 'प्राणावाय पूर्व' (आगम शास्त्र) मे प्राणायाम के भेद प्रभेदो का वर्णन था—ऐसा आचार्यों का मत है (द्रष्टव्यधवला-1/1/2 तथा गोम्मट-सार, जीवकाण्ड-366 गाथा व टीका)।

(ग) आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आ स्वरूपादि जानने हेतु जैन परम्परा के ग्रन्थ द्रष्टव्य है—आ शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव, आ हेमचन्द्र कृत योगशास्त्र, आ हरिभद्र कृत अनेक योग सम्बन्धी ग्रन्थ आदि।

तथा स्वरूप के विषय में जैन परम्परा अपना विशिष्ठ मत रखती है। इसमें वैदिक परम्परा से साम्य व वैषम्य दोनों ही देखे जा सकते है। अस्तु, सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार मन के व्यापार का नियमन नियन्त्रण ही 'नियम' है। एकान्तवास, असगता, उदासीनता, यथा-प्राप्तिसन्तुष्टि, राग-द्वेष रूपी द्वन्द्वों में उपरामता (वैरस्य) तथा गुरुचरणों के आश्रय में ही निर्भरता—ये सब नियम के लक्षण हैं।[1]

जैन-परम्परा में यमों को व्रतों के रूप में स्वीकारा गया है। उक्त सभी नियमों को भी प्रकारान्तर से, तथा अपनी परम्परा की मौलिक विशेषता को सुरक्षित रखते हुए, स्वीकारा गया है।[2] वैदिक परम्परा में स्वीकृत यम व नियम का प्रसगोचित निरूपण भी जैन ग्रन्थों मे प्राप्त होता है। आ हेमचन्द्र ने 'अभिधान चिन्तामणि' में (ई. 12वी शती) योगसूत्र-प्रतिपादित 'नियमों' का सकेत किया है।[3] आ० भावसेन त्रैविध ने (ई. 13वी शती) अपने ग्रन्थ 'विश्वतत्वप्रकाश' में न्याय दर्शन के मत का निरूपण करते हुए बताया है कि न्यायदर्शन के अनुसार 'पुण्य-प्राप्ति हेतु विशिष्ट प्रदेश तथा समय में मर्यादित क्रियाए' नियम हैं। वे है—देवपूजा, प्रदक्षिणा, सन्ध्योपासना, जप आदि।[4] जैनाचार्य उपाध्याय यशोविजय जी ने (ई. 17वीं शती) 'अध्यात्मसार' ग्रन्थ में पाशुपत-मत मे स्वीकृत 'नियमों' की संख्या पाच बताते हुए, उनका निर्देश इस प्रकार किया है - (1) अक्रोध (क्षमा), (2) गुरु-शुश्रूषा, (3) शौच (शरीरादि की पवित्रता), (4) अल्पाहार तथा (5) प्रमाद (असावधानी अर्थात् अकार्य में प्रवृत्ति, कार्य से निवृत्ति) का त्याग—ये पाच नियम है।[5]

(5) जैन परम्परा में 'नियम' का स्वरूप

नियम, यम, व्रत, महाव्रत—ये सभी संवर (कर्मो के आगमन को रोकने में समर्थ) की कोटि मे परिगणित होने से समान है, किन्तु इनमे परस्पर वैषम्य भी है। विषय-कषायों से निवृत्ति के भाव (आत्म-परिणाम)

---

1. नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति, एकान्तवासो नि संगता औदासीन्य यथाप्राप्ति–सन्तुष्टि-वैरस्यं गुरुचरणावरुद्धत्वमिति नियमलक्षणम् (सिद्धसिद्धान्तपद्धति, 2/33)।

2. श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग सूत्र (सम 32, सू. 209) मे निरूपित योग-संग्रहो में उक्त सभी नियम समाविष्ट हो जाते हैं। दिगम्बर ग्रन्थों मे भी उक्त प्रमुख पाचो (योगसूत्रोक्त) नियमो को सवर व निर्जरा के कारणों के रूप मे स्थान मिला है।

3. नियमाः शौच-सन्तोषौ स्वाध्याय तपसी अपि। देवता-प्रणिधानं च (अभिधान चिन्तामणि–1/82)।

4. देशकालावस्थाभिरनियताः पुरुषस्य शुद्धिवृद्धिहेतवो यमा., अहिंसा–ब्रह्मचर्यास्तेयादयः। देश-कालावस्थापेक्षिणः पुण्यहेतव. क्रियाविशेषा नियमा', देवार्चनप्रदक्षिणा सन्ध्योपासनजपादयः विश्वतत्त्वप्रकाश, न्यायमतोपसंहार)।

5. अक्रोधो गुरु-शुश्रूषा शौचमाहारलाघवम्। अप्रमादश्च पञ्चैते नियमाः परिकीर्तिताः. (अध्यात्म-सार–12–17)॥

व्रत है।[1] आ समन्तभद्र के शब्दों में अनिष्ट व असेवनीय विषयों से अभिप्रायपूर्वक विरति (निवृत्ति) 'व्रत' है।[2] निरपवाद (देश, काल आदि के अपवाद से रहित) व्रतों का पालन 'महाव्रत' है।[3] मास-मद्य-वैश्यादिसेवन व रात्रिभोजन आदि निषिद्ध कार्यों से ऐच्छिक नियतकालीन निवृत्ति, या त्याज्य वस्तुओं के भोगोपभोगादि का नियतकालीन सकोच 'नियम' है। इसी 'नियम' का यावज्जीवन-धारण 'यम' है। आ समन्तभद्र (ई 2री शती) आदि आचार्यों ने उक्त भाव को परिष्कृत रूप मे इस प्रकार वर्णित किया है– 'सासारिक भोगोपभोगों के स्वेच्छा से नियत-कालीन व आशिक प्रत्याख्यान', त्याग या विरति 'नियम' है।[4] आ पद्मप्रभमलधारि देवने (13वी शती विक्रम) परिमित–काल की क्रिया को 'नियम' कहा है।[5]

आ जिनसेन (ई 8–9वी शती) के शब्दो मे मास, मदिरा, मधु जुआ, वैश्या आदि का सेवन, तथा रात्रि-भोजन व अनन्तकाय फलादि का भक्षण—इनसे (यथाशक्ति व परिमित मात्रा मे) विरति 'नियम' है।[6] उक्त नियम का सम्बन्ध त्याज्य या अत्याज्य–दोनों प्रकार की वस्तुओं से है–ऐसा समझना चाहिए। आचार्य सोमदेव सूरि (ई 10वी शती) के अनुसार, पूर्णत त्याज्य वस्तुओं का सेवन तो यावज्जीवन छोड देना ही उचित है,[7] साथ ही, सेवनीय व प्राप्त वस्तुओं मे भी

---

1 विषयकषायनिवृत्तिरूप परिणाम कृत्वा (द्रव्यसग्रह–52 पर टीका ब्रह्मदेवकृत)। व्रत कोऽर्थ ? सर्वनिवृत्तिपरिणाम (परमात्मप्रकाश–2/52 पर ब्रह्मदेव कृत टीका)।
यद्यपि व्रतो का शुभास्रव मे कारण माना गया है (द्र० सर्वार्थसिद्धि–7/1), किन्तु यहा 'सयम' धर्म के अगभूत (समितियुक्त) 'व्रत' से तात्पर्य है (द्र धवला, पु 14, पृ 12, सूत्र-15) अथवा 'व्रत द्वारा पापो का जो सवर होता है, उस (निवृत्यश) को दृष्टिगत रखते हुए 'व्रत' को 'सवर' कोटि मे रखा है (द्र द्रव्यसग्रह-35 पर टीका तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा 95)।

2 यदनिष्ट तद् व्रतयत् यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात। अभिसन्धिकृता विरतिर्विषयाद् योग्याद् व्रत भवति (रत्नकरण्ड श्रावकाचार-3/40)॥

3 अहिंसासूनृतास्तेयब्रह्माकिञ्चनता यमा। दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् (यशो द्वात्रिंशिका-21/2)॥ एभ्यो हिंसादिभ्य सर्वतो विरतिर्महाव्रतम् (त भा 7/2)। रत्नकरण्ड श्रावकाचार-4/17)

4 नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसहारे। नियम परिमितकाल यावज्जीव यमो ध्रियते (रत्नकरण्ड 3/41) अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तु रयन वा। इति कालपरिच्छित्या प्रत्याख्यान भवेन्नियम (रत्नक 3/43)॥ यावज्जीव यमो ज्ञेय सावधिर्नियम स्मृत (उपासकाध्ययन 42/761)।

5 परिमितकालाचरणं नियमे (नियमसार–127 पर तात्पर्यवृत्ति)।

6 परिमाण तथात्र यथाशक्ति यथायथम्। उपभोगपरीभोग परिमाणव्रत हि तत्॥ मासमद्यमधुद्यूत वेश्यास्त्रीनक्तभुक्तित। विरतिर्नियमो ज्ञेयोऽनन्तकायादिवर्जनम् (हरिवश पुराण-58/156-157)।

7 द्र उपासकाध्ययन-42/762,

इच्छा से 'नियम' करना अपेक्षित है।[1] आ. सोमदेव सूरि ने अध्यात्म-क्षेत्र में ही नही, अपितु राजनैतिक क्षेत्र में भी 'नियम' शब्द का प्रयोग किया है। उनके मत में प्राचीन परम्परा (ऐतिह्य) के अनुरूप विहित कार्यो में राजा की प्रवृत्ति, तथा निषिद्ध कार्यो से निवृत्ति 'नियम' है।[2] राजवार्तिककार (ई 7वी शती) के मत में विहित कार्य के प्रति, नियत विधि के साथ, कर्तव्यता, तथा अन्य (निषिद्ध) कार्य के प्रति अकर्तव्यता—'नियम' है।[3] यही 'नियम' बुद्धिपूर्वक परिणामों से संकल्प की दृढता होने पर तथा प्रतिज्ञापूर्वक लिए जाने पर, 'व्रत' की कोटि मे आ जाते हैं।[4] पं. आशाधर (ई 12-13वी शती) के मत में किन्ही पदार्थो के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मो का नियत या अनियत काल के लिए संकलपपूर्वक त्याग, अथवा शुभ कर्मो में प्रवत्ति करना—'व्रत' है।[5]

श्वेताम्बर ग्रन्थों मे भिक्षादि-सम्बन्धी प्रतिज्ञा या अवग्रहों को 'नियम' कहा गया है।[6] विशेष प्रतिमाधारी मुनि वृत्तिपरिसंख्यान नामक बाह्य तप के अन्तर्गत आहार व अवग्रह (भिक्षा–स्थान) के सम्बन्ध में विविध अभिग्रह धारण करता है। जेसे, 'यदि भिक्षा में अमुक द्रव्य, अमुक क्षेत्र में, अमुक काल में, अमुक स्थिति मे मिले, तभी मै भिक्षा लूंगा, अन्यथा नही'। इन अभिग्रह-विशेषों को 'प्रतिमा' या 'नियम' कहा जाता है।[7] एक अन्य आचार्य के अनुसार, कुछ समय के लिए इच्छाओ को रोकना 'तप' है, और आजीवन इच्छा-निरोध करना 'नियम' है।[8]

(क) 'नियम' की महत्ता

जैन शास्त्रों में 'नियम' को चारित्ररूपी वृक्ष के लिए 'जल' की उपमा दी गई है।[9]

---

1. प्राप्ते योग्ये च सर्वास्मिन्नच्छया नियमं भजेत् (उपासकाध्ययन-41/760)। यमश्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ (उपासका. 41/761)।
2. विहिताचरण निपिद्धपरिवर्जन च नियम। विधिनिपेधौ ऐतिह्यायत्तौ नीतिवाक्यामृत–1/23-24) ॥
3. इदमेव इत्थमेव वा कर्तव्यम् इति अन्यनिवृत्तिः नियम (राजवार्तिक 7/1/3)। व्रतमभिसन्धिकृतो नियम। इद कर्तव्यम्, इद न कर्तव्यमिति वा (सर्वार्थसिद्धि-7/1)।
4. व्रतमभिसन्धिकृतो नियम। बुद्धिपूर्वकपरिणामोऽभिसन्धि (राजवार्तिक-7/1/3)। अभिसन्धिपूर्वको नियमो व्रतम् (राजवार्तिक-7/24/1)।
5. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मरण.। निवृत्तिर्वा व्रत स्याद् प्रवृत्ति. शुभकर्मणि (सागार धर्मामृत-2/80) ॥
6. नियमा, पडिमादयो अभिग्गहविसेसा (दशवैकालिक-द्वितीय चूलिका, गाथा–4 पर जिनदासकृत चूर्णि, पृ. 370)। नियमश्च द्रव्याद्यभिग्रहात्मकः (उत्तराध्ययन सूत्र 19/5 पर शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति, पत्र सं, 451-52)।
7. प्रतिमा प्रतिज्ञा अभिग्रहः (स्थानाग सूत्र वृत्ति, पत्र सं 184) (द्र समवायाग सूत्र–ब्यावर संस्करण, प्रस्तावना, पृ. 22)।
8. द्रष्टव्य–नन्दीसूत्र-गाथा-6 पर टिप्पण, आ हस्तीमलजी द्वारा अनूदित संस्करण [प्रकाशक—रायबहादुर श्री मोतीलाल जी मुथा, सातारा (महाराष्ट्र)]।
9. यमनियमपयोनिर्दिपितः शीलजालः ...... स भवविभवहान्यै नोऽस्तु चारित्रवृक्षः (चरित्र भक्ति, संस्कृत श्लोक सं 9-10) ॥

एक स्थल पर चतुर्विध श्रमणसघ रूपी रथ को वहन करने वाले तप व नियम—ये दो घाडे बताए गए है ।[1] जैन परम्परा मे अणुव्रतो व भोगोपभोग-परिमाण व्रत[2] का समावेश उक्त 'नियम' के ही अन्तर्गत हो जाता है । रागद्वेषमयी प्रवृत्तियो को नियन्त्रित करने हेतु यमो व नियमो का विधान किया गया है । निवृत्ति-प्रधान जैन धर्म मे यम-नियम की महत्ता स्वत हो जाती है ।

आ सोमदेव सूरि (ई 10वी शती) के अनुसार, 'नियम' की उपयोगिता यह है कि इससे चितवृत्ति एक सीमा में बंध जाती है ।[3] प्रतिदिन सेवन में आने वाली वस्तुओ के परिमाण को सीमित करने से अनावश्यक सचय से बचा जा सकता है, और जीवन मर्यादित होता है जिससे शान्ति, और फल-स्वरूप परिणामो की निर्मलता प्रशस्त होती हैं । इस नियतवृत्तिता के फलस्वरूप उत्तम सद्गति–मनुष्यादि देव-पर्याय तथा परम्परया मुक्ति की प्राप्ति होती है ।[4]

(ख) जैन आध्यात्मिक साधना एव मुनि-चर्या मे 'नियम'

आ कुन्दकुन्द द्वारा विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ 'नियमसार' में 'नियम' का स्वरूप पूर्वोक्त 'नियम' से कुछ भिन्न है । आ कुन्दकुन्द के अनुसार, 'नियम' से तात्पर्य है—साधक के लिए नियत रूप से कर्तव्य, अर्थात् मोक्षमार्ग-(सम्यक्) दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रत्नत्रय) का आश्रयण ।[5]

यहाँ यह प्रश्न स्वभावत उठ खडा होता है कि आ कुन्दकुन्द ने 'नियम' शब्द का जो स्वरूप प्रस्तुत किया, उससे पृथक् रूप में या स्वतन्त्र रूप में आ समन्तभद्र आदि आचार्यों ने क्यो प्रतिपादित किया ? किन्तु सूक्ष्म चिन्तन करने पर उक्त प्रश्न का समाधान मिल जाता है । वास्तव मे, जब हमें इस बात को पहले समझ ले कि इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय क्या है, और इस ग्रन्थ के अधिकारी पाठक कौन हैं (अर्थात् श्रावक या मुनि

1 भद्द सीलपडागूसियस्स तवनियमतुरयजुत्तस्स । सघरहस्स भगवओ सज्झायसुनदिघोसस्स (नन्दीसूत्र–गाथा 6) ॥

2 भोगोपभोगपरिमाण व्रत का कुछ आचार्यों न 'गुणव्रत' के रूप मे, तो कुछ ने 'शिक्षाव्रत' के रूप म स्वीकारा है । गुणव्रत मानने वालो मे आ कुन्दकुन्द, देवसेन, स्वामी कार्तिकेय, प आशाधर आदि ह । शिक्षाव्रत मानने वालो मे आ उमास्वामी, शिवार्य, आ जिनसेन (हरिवश पुराणकार), अमितगति, सोमदेवसूरी व आ अमृतचन्द्र आदि हैं ।

3 कुर्यात् चितव्याप्ति निवृत्तये (उपासकाध्ययन-42/761) ।

4 इत्थ नियतवृत्ति स्यात् अनिच्छोप्याश्रय श्रियाम् । नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसविधागम (उपासकाध्ययन–42/764) ॥

5 नियमसार–3, नियमशब्दस्तावत् सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रेषु वर्तते (नियम 1 पर ता वृ) । नियमस्तावत शुद्धरत्नत्रयव्याख्यानस्वरूपेण प्रतिपादित (नियम 185 पर ता वृ) । नियम शब्दसूचित विशुद्धमोक्षमार्गस्य (नियम-187 पर ता वृ) । नियम मोक्खउवाओ (नियम 4) ।

आदि) ? उक्त तथ्य को समझते ही उक्त प्रश्न स्वतः समाहित हो जाएगा। नीचे हम इस सन्दर्भ में 'वास्तविक स्थिति' प्रस्तुत कर रहे हैं।

(ग) नियमसार के (मुख्य व गौण) अधिकारी :

'नियमसार' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का उपयोग प्रमुख रूप से मुनि-वर्ग के लिए है, क्योंकि उन्हें यह ग्रन्थ परम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते रहने का मार्गनिर्देशन देता है।

स्वयं आचार्य ने इस ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है कि मैंने यह ग्रन्थ 'प्रवचन-भक्ति' की भावना से रचा है।[1] प्रवचन-भक्ति से तात्पर्य है—जिनोपदिष्ट आगम में, तथा उसमें प्रतिपादित मोक्ष-मार्ग में, मनःशुद्धियुक्त अनुराग तथा उसका अनुष्ठान।[2] प्रवचन-भक्ति रूप उक्त अनुराग शुभोपयोगात्मक[3] परोपदेश के रूप में भी प्रकट होता है।[4] तत्वज्ञानी मुनि अपनी रत्नत्रयात्मक (या सम्यक् ज्ञान)[5] रूपी निधि की रक्षा हेतु प्रायः एकान्तवास[6] करता है, और स्वाध्याय व तत्वचिन्तन में समय-यापन करता है। इसी दृष्टि से मुनियों के लिए स्वाध्याय व ध्यान की प्रमुखता जैन शास्त्रों में बताई गई है।[7]

आचार्य होने के कारण भी, ग्रन्थकार के लिए यह स्वाभाविक था कि तत्व-चिन्तन-रूप में प्रसूत इस ग्रन्थराज के माध्यम से वे अपने को तथा अन्य भव्यजनों को मोक्ष-मार्ग में सतत प्रवृत्त करें।[8] ग्रन्थकार स्वयं मुनि हैं, सामान्य मुनि ही नहीं, अपितु देहमात्रपरि-

---

1. णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए (नियम. 185)। णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं (नियम. 187)।
2. तम्मि (पवयणम्मि) भत्ती तत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाणं (धवला, पु. 8, पृ. 90)। प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः (भावप्राभृत-77 पर टीका)। प्रवचने रत्नत्रयादिप्रतिपादकलक्षणे मनःशुद्धियुक्तोऽनुरागः प्रवचन-भक्तिः (तत्त्वार्थसूत्र-श्रुतसागरीय वृत्ति, सू. 6/24)। अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः (सर्वार्थसिद्धि-6/24)। तपसि निरतचित्ता शास्त्रसंघातमत्ता.(नियम. 86 पर ता. वृ. में श्लोक सं. 115)।
3. द्र. प्रवचनसार–3/48,
4. आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती। होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स (भगवती आराधना-110)॥ श्रेयोऽर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः (वरांगचरित–3/13)।
5. तदेव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायतम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतु (समयसार–4/155 पर आत्मख्याति)।
6. अस्मिन् लोके लौकिकः कश्चिदेकः, लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनानां समूहम्। गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्त-संगो ज्ञानी तद्वत् ज्ञानरक्षां करोति (नियम. 157 पर ता. वृ. में श्लोक सं. 268)॥ द्र. नियमसार-157,
7. सज्झायज्झाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया (बोधप्राभृत-57)। झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मे तं विणा तहा सो वि (रयणसार–11)।
8. दंसणणाणपहाणे वीरियचारित्तवरतवायारे। अप्पं परं च जुंजइ सो आयरिओ मुणी झेओ (द्रव्य संग्रह-52)॥

ग्रही[1] निर्ग्रन्थ हैं, इसलिए यह स्वाभाविक है कि आचार्य कुन्दकुन्द जैसे पूर्ण सयमी-व्रती तपस्वी की भूमिका मे जिस मोक्ष मार्ग या मुनि-चर्या के प्रति अनुराग होगा, उसीका निरूपण इस ग्रन्थ मे हुआ होगा। शुभोपयोगी भूमिका वाले मुनि को अपने अशुभोपयोग रूप (पराधीनता/अवशता)[2] मे नीचे न गिरने की दृढ भावना के साथ-साथ शुद्धोपयोग (लक्ष्य) की ओर बढते रहने की सहज प्रवृत्ति रहती है,[3] उनका शुभोपयोग भी शुद्धोपयोग का साधक बन जाता है।[4] यही मन स्थिति इस ग्रन्थ की रचना मे एक पृष्ठभूमि है। उक्त प्रवचन-भक्ति मुनि को अशुभोपयोग मे गिरने से रोकती है[5] और शुद्ध लक्ष्य के प्रति अनुराग को भी दृढ करती है। उपादेय शुद्धात्मा के विषय मे की जाने वाली तत्व-चर्चा या तात्विक चिन्तन से व्यक्ति के निर्वाण का मार्ग प्रशस्त होता है।[6] यही कारण है कि इस ग्रन्थ को आचार्यों ने तथा पू आर्यिका ज्ञानमती माताजी आदि ने सर्वोपयोगी[7] स्वीकार करते हुए भी इसे मुख्यत मुनियो/सयमियो के लिए उपयोगी माना है, श्रावको के लिए परम्परया, गौण रूप से उपयोगी माना है।[8] जो भी हो, इस

---

1 पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण निर्मितमिदम् (नियम 187 पर ता व)।

2 वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण (नियम 143)। अन्य वश ससारी मुनिवेशधरोऽपि दु खभाड् नियम् (नियम 143 पर ता वृ मे श्लोक स 243)।

3 कदाचित्पुन निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावना साधनार्थं वा शुभोपयोगपरिणाम च करोति (समयसार-3/74 पर तात्पयवृत्ति)। अशुभोपयोगपराङ्मुखस्य शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षाच्छुद्धोपयोगाभिमुखस्य (नियम 100 पर ता वृ)।

4 निर्विकल्पसमाधिरूप शुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति, तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुख विपरीतमाकुलत्वोत्पादक स्वर्गसुख लभते, पश्चात परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्ष च लभते (प्रवचन 1/11 पर ता वृ)। असयतसम्यग्दृष्टि-श्रावकप्रमत्तसयतेषु पारम्पर्येण शुद्धोपयोगसाधक उपर्युपरि तारतम्येन शुभोपयोगो वर्तते (द्रव्यसग्रह-34 पर टीका)।

5 निजभावना निमित्तमशुभवञ्चनार्थं नियमसाराभिधान श्रुतम् (नियम 187 पर ता वृ)।

6 तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाण च भवति (समय 3/96 पर ता वृ)। चिन्तन धर्मशुक्लरूप प्रशस्तम् (नियम 1/6 पर ता वृ)।

7 सकलभव्यनिकुरम्बहितकर नियमसाराभिधान परमागमम (नियम 1 पर तात्पय वृत्ति)।

8 (क) इस ग्रन्थ मे स्वात्मोपलब्धि के साक्षात्कारण 'शुद्ध रत्नत्रय' (नियमसार) का प्रतिपादन है। निर्विकल्प रत्नत्रयात्मक कारणपरमात्मा' मे अविचल स्थिति रूप 'निश्चय चारित्र' की पूर्णता ही 'स्वात्मोपलब्धि' है जिसे मुक्ति या सिद्धि भी कहा जाता है। (द्र नियमसार–1 तथा 3 पर तात्पयवृत्ति)। उक्त शुद्धरत्नत्रयात्मक आत्म-परिणति मुनियो के लिए 'मोक्षोपाय' कही गई है (मोक्षोपायो भवति यमिना शुद्धरत्नत्रयात्मा—नियमसार गाथा–4 पर ता वृ मे श्लोक स 11)।

(ख) आ ज्ञानमती जी द्वारा 'नियमसार' की प्रस्तुत 'स्याद्वादचन्द्रिका' टीका, नियमसार-गाथा-3 पर।

ग्रन्थ का प्रणयन कर ग्राचार्य ने हम सव का महान् उपकार किया है, क्योंकि उपदेश द्वारा जिन-मार्ग में प्रवृत्त कराना, धर्माचरण में प्रेरित करना ही शास्त्रों में महान् उपकार कहा गया है ।[1]

(घ) नियम शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के प्रकाश में आ. कुन्दकुन्द-सम्मत 'नियम' के स्वरूप की समीक्षा :

'नियम' शव्द के व्युत्पत्तिलभ्य ग्रर्थ पर विचार करना भी यहा अपेक्षित है । 'यम्' धातु उपरम (विरति) ग्रर्थ में है ।[2] 'नियम' शव्द का व्युत्पत्तिलभ्य ग्रर्थ होगा—विरति या व्रत । 'यम्' धातु का दूसरा ग्रर्थ 'परिवेपण' भी है ।[3] परिवेषण से तात्पर्य है—वेष्टन या सीमा मे/परिधि मे वाधना । उपरति या परिवेपण—दोनों में स्व-प्रवृत्ति का संयमन ग्रन्तर्निहित है । 'विरति' यदि वाह्य ग्रनिष्ट पदार्थों से स्वयं को हटाना है तो 'परिवेषण' स्वप्रवृत्तियों का सीमित करना या उनकी सीमा वाधना है । जैन परम्परा मे इसीलिए 'यम' को 'व्रत' का पर्याय माना गया है ।

'यम्' धातु के पहले 'नि' उपसर्ग लगने पर, ग्रपने नियत ग्रर्थ से भी पृथक (ग्रन्य) ग्रर्थ व्यक्त होते है—(1) निवारण/निरोध/नियन्त्रण/वाधना ।[4] (2) शान्त करना/बुझाना,[5] (3) दण्डित करना / ग्रनुशासित करना / वश मे करना,[6] (4) प्रत्याख्यान करना,[7] (5) धारण करना / ग्रन्तर्निविष्ट करना/छिपाए रखना,[8] (6) वलपूर्वक

---

1. न च हितोपदेशात्पर: पारमार्थिक: परार्थ. (स्याद्वादमज्जरी, श्लोक 3, पृ. 12) । भव्योऽय-मिति त मत्वा यक्षी तत्पक्षपातत. । उपायेनानयत् जैन धर्म सा हि हितैपिता (उत्तर पुराण–74/416) ॥
2 नियमन नियम, 'यम समुपनिविपु च' इति भावे ग्रच् प्रत्यय: सिद्धान्तकौमुदी-भ्वादि प्रकरण, धातु सख्या 819 पर वालमनोरमा टीका) ।
जैन परम्परा मे सयम व विरति मे कुछ ग्रन्तर माना गया है । समिति सहित विरति संयम' है, समिति-रहित हो तो 'विरति' (धवला पु. 14, पृ 12) ।
3. सिद्धान्तकौमुदी, धातु सख्या–1626 चुरादि गण ।
4 नियच्छेद मन: पापात् (म. भा. ग्रादि पर्व-179/21) । प्रयुक्ता स्वामिना सम्यग् ग्रधर्मेभ्यो नियच्छति (म. भा. शान्ति पर्व–69/76) । नियन्तकश्च राजभि: (मनु. 9/413) । नियमसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्ड: (शाकुन्तल ना. 5/8) । नियच्छामि जनार्दनम् (म. भा. उद्योग. 88/13) । वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौ· (ऋग्वेद–10 27/22) । पशूनां त्रिशत स्तासीद् यूपेपु नियतं तदा (वा. रामा. 1/13/33) । नियम्य पृष्ठे तु (वा. रामायण–2/87/23) । ग्रधर्मनियमाय च (मनु. 8/122) ।
5. वारि वन्हेर्नियामकम् (कामन्दकीय नीतिसार–11/49) ।
6 यम समेयाद् वरुण नियच्छेद् (वा. रामायण-6/43(42) । नियन्तुर्नेमिवृत्तय. (रघुवंश-1/17) ।
7. द्र. ऋग्वेद–6/45/23,
8. सोको नियम्यत इव दशान्तरेषु (शाकुन्तल नाटक–4/2) । न यत्नेन दुर्योनि. प्रकृतिस्त्या नियच्छति (मनु. 10/59) । मन्त्रस्य नियम कुर्या. (महाभा. उद्योग. 14 /20) । द्र. ऋग्वेद–10/56/5,

प्रवृत्त करना/स्थिरीकरण,[1] (7) नवाना/झुकाना,[2] (8) दान देना,[3] (9) वापस लोटाना,[4] (10) नियम से/अवश्य प्राप्त करना/नियमत करना। शास्त्रोक्त कर्तव्यों का अनुष्ठान,[5] (11) सयम (योग्य–उचित कार्य में प्रवृत्ति तथा अयोग्य–अनुचित कार्य से निवृत्ति[6])।

तात्पर्य यह है कि नियम' शब्द का जो अर्थ अभी तक विवेचित हुआ है, उससे आ कुन्दकुन्द द्वारा स्वीकृत अर्थ की उपयुक्तता की ही पुष्टि हुई है। सक्षेप में जैन साधना-मार्ग में 'नियम' का जो शाब्दिक अर्थ ग्राह्य है, वह है—साधक के लिए नियत कर्तव्य अर्थात् चित्तवृत्ति को अनपेक्षित वस्तुओं से हटाकर अपेक्षित विषयों में—तत्त्वत शुद्धात्मा रूप उपादेय वस्तु में स्थापन करना या स्थिर करना।[7] इस कार्य को तीन भागों में बाँट कर, इसे तीन शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। वे हैं - (1) सयम (विषयों से इन्द्रिय-व्यापार को हटाना),[8] (2) नियम (शुद्ध आत्मतत्त्व

---

1 द्र ऋग्वेद–2/45/1, 3/51/11, अथर्व 1/1/3, दण्डनीति स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति (म भा शान्तिपर्व–69/76)।

2 मध्यदेशे नियच्छति (समिधम्)–(भारद्वाज श्रौतसूत्र–6/12/2)।

3 व्यपारस्य शैथिल्य च नियच्छति (काव्यादर्श–1/60)। को न कुले निवपनानि नियच्छति (शाकुन्तल नाटक–7/25)।

4 शर नियच्छेय त्वदवधायम् (हरि 1/6/7)।

5 ब्राह्मण सप्तरात्रेण वैश्यभाव नियच्छति (मनु 10/93)। मरण वा नियच्छति (सुश्रुत सहिता–अ 46)। काले चास्त नियच्छन्ति कालो मूर्तिरमूर्तिमान् (मैत्र्युप 6/14/15)। साऽट्टहास नियच्छति (म भा शान्तिपर्व 290 24)। ब्राह्मणत्व नियच्छति (म भा अनुशासन पर्व 143/51)। तत सिद्धि नियच्छति (मनु 2/93)। अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्तिता (कारिकावली–1/16)।
नास्य कर्म नियच्छन्ति किञ्चित् आमौञ्जिबन्धनात् (बोधायन धर्म–1/2/3/7)। नियतैकपतिव्रतानि पश्चात् तरुमूलानि गृही भवन्ति तेषाम् (शाकु 7/20)। वाच्यार्था नियता सर्वे वाङ्मूला वाग् विनिसृता (मनु 4/256)।
नियमा दश (अत्रि स्मृति)। नियम–विघ्नकारिणी (नियम–तपश्चर्यादि) (शाकुन्तल ना 1)।

6 मधुरो वाचि नियम (उत्तर रामचरित/2/2)।

7 अघकुलमलपकानीकनिमुक्तमूर्ति, सहजपरमतत्त्वे सस्थिता चेतना च (नियम–55 पर ता व मे श्लोक स 75)। विषयसुखविरक्ता शुद्धतत्त्वानुरक्ता, तपसि निरतचित्ता शास्त्रसघातमत्ता। गुणमणिगुणयुक्ता सर्वसकल्पमुक्ता, कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते (नियम 86 पर ता वृ मे श्लोक स 115)॥

8 नियम 86 पर ता व मे श्लोक स 115, बुध्यत्यन्त प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुक (समाधि श 60)। जनेभ्यो वाक्तत स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमा। भवन्ति तस्मात ससर्ग जनैर्योगी ततस्त्यजेत् (समाधि श 72)। सर्वेन्द्रियाणि सयम्य (समाधि श 30)। सयम सकलेन्द्रिय व्यापारपरित्याग (नियम 123 पर ता व)।

के प्रति मनोयोग को मोड़ना[1] तथा (3) शुद्धात्म-तत्त्व पर मनोयोग को दृढ़/स्थिर करते रहना[2] तथा अन्त में आत्ममय हो जाना।[3] इन तीनों कार्यों को एक श्रृंखला मे बांधने वाला तत्त्व है—'आत्म-ध्यान'। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियम' को 'ध्यान' की पूर्णता से जोड़ा है।[4]

साधक की भूमिका के अनुरूप, साधक में धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान की निम्न व उच्चतर कोटियां होती हैं।[5] इसके अतिरिक्त, सामान्य श्रावक की भूमिका वाले व्यक्ति को अशुभोपभोग से शुभोपयोग की ओर उन्मुख होने की दृढ़ भावना रहती है। वह विषयासक्ति के जीवन से ऊपर उठकर, महाव्रती/पूर्ण सयमी की स्थिति में पहुचने का लक्ष्य रखकर भी, शक्ति-दुर्बलतावश क्रमिक सोपान पर चढने मे औचित्य समझता है, और इसलिए, उसके लिए 'नियम' यही होगा कि वह अणुव्रतों के प्रति या महाव्रतों के आंशिक पालन के प्रति, या भोगोपभोग के साधनों के प्रयोग को (परिमाण व काल की दृष्टि से) परिमित करने के प्रति अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करे। (इसीलिए उक्त भूमिका के श्रावकों को लक्ष्य करके लिखे गए रत्नकरण्डश्रावकाचार जैसे ग्रन्थों मे आचार्यो ने 'नियम' का पूर्वोक्त स्वरूप ही प्रतिपादित किया है।) किन्तु मुनि या पूर्ण संयमी

---

1. रागद्वेषादिकल्लोलैरलोल यन्मनोजलम्। स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः (समाधि श. 35)॥ युञ्जीत मनमात्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्। मनसा व्यवहारं तु त्यजेद् वाक्काययोजितम् (समाधि श. 48)॥ नियमेन स्वात्माराधनतत्परता (नियम. 123 पर ता. वृ.)।

2. अविद्याभ्याससंस्कारैरवश क्षिप्यते मनः। तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते (समाधि श 37)॥ धारयेत्तदविक्षिप्तं (समाधि श. 36)। आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः। तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् (समाधि श. 79)॥ मोत्तूण वयणजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा। अप्पाण जो झायदि (नियम. 95)। नियम. 97 पर ता वृ.। सदान्तर्मुखपरिणत्या परमकलाधारमत्यपूर्वमात्मान ध्यायति (नियम. 95 पर ता. वृ)। आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते (समयसार-कलश-227)। शुद्धात्मान निरुपधिगुणं चात्मनैवावलम्बे (नियम. 107 पर ता. वृ. मे श्लोक सं. 152)। समाधिशतक-71,

3. निर्विकल्पे समाधौ यो नित्य तिष्ठति चिन्मये। द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मान त नमाम्यहम् (नियम 123 पर ता. वृ. श्लोक सं.201)॥ उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा। मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरु. (समाधि श. 98)॥ जगद्देहात्मदृष्टीना विश्वास्य रम्यमेव च। स्वात्मन्येवात्मदृष्टीना क्व विश्वासः क्व वा रतिः (समाधि श. 49)॥

4. अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा (नियमसार–120)। अप्पा अप्पम्मि रओ तमेव परं हवे झाणं (वृ. द्रव्यसग्रह–56)। निर्विकल्पसमाधिगम्यं सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र-त्रयमस्ति (समयसार–1/16 पर ता. वृ)।

5. स्वात्माश्रयनिश्चय धर्मध्यानेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वरूपनिरत-परमशुक्लध्यानेन [illegible] शौनगगनदःनक्षत्रानिरत. निरुपरागसयतो ध्यायति (नियम. 122 [illegible])।

निर्ग्रन्थ[1] साधु के लिए अद्वैत/अखण्ड/वीत-राग/परमशुद्ध आत्म-द्रव्य ही उपादेय तत्व होता है[2], इसलिए उसके लिए 'नियम' यही है कि वह उस परम तत्व को अपने अनुराग/भक्ति का लक्ष्य बनावे।[3] दूसरे शब्दों में, शुद्धोपयोग की ओर उन्मुखता[4] या निश्चय शुद्ध रत्नत्रय का आचरण[5] ही मुनि के लिए 'नियम' है।

श्रावक (भूमिकानुरूप) मोक्ष-मार्ग रूप 'नियम' का पालन करता है। मुनि-जीवन में जो मोक्ष-मार्ग या रत्नत्रय जिस प्रकार से पाला जाता है, उसी मोक्ष-मार्ग का इस ग्रन्थ में वर्णन है—इसे व्यक्त करने के लिए ग्रन्थकार ने 'नियम' के स्थान पर 'नियमसार' शब्द प्रयुक्त किया है।[6] 'सार' शब्द जोड़ने से वही 'नियम' ग्राह्य है जो मोक्ष में साक्षात् कारण हो। वैसा 'नियम' 'शुद्ध रत्नत्रय' या 'शुद्धोपयोगी आचरण' की स्थिति का आश्रयण ही है।[7] रत्नत्रय की शुद्धता उसकी उत्कृष्टता को संकेतित करती

1 णिग्गथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति (नियमसार 75)। बाह्याभ्यन्तर समस्तपरिग्रहाग्रहविनिमुक्तत्वात् निग्रन्था (नियम 75 पर ता वृ)। पव्वज्जा सव्वसग परिचत्ता (बोध प्रा 25)। रत्नकरण्ड श्रा 125,

2 जीवादी बहित्तच्च हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा। कम्मोपाधि समुब्भवगुणपज्जाएहि वदिरित्तो (नियमसार–38)॥ ध्यानध्येयध्यातृतत्फलादिविविधविकल्प-निमुक्तान्तमुखाकारनिखिलकरणग्रामागोचर निरजन निजपरमतत्त्वाविचलस्थितिरूप निश्चयशुक्लध्यानम्। एभि सामग्रीविशेषै साध मखण्डाद्वैतपरमचिन्मयमात्मान य परमसयमी नित्य ध्यायति, तस्य खलु परमसमाधिर्भवति (नियम 123 पर ता वृ)। भवति निरपराध साधु शुद्धात्मसेवी (अध्यात्म अमृतकलश-9/8)। द्र अध्यात्म अमृतकलश-9/12 आदि।

3 समाधिशतक 27, 4, सदव्वे कुणइ रइ (मोक्षप्राभृत-16)। समयसारकलश-15,

4 प्रविशेदन्त बहिर्व्यापृतेन्द्रिय (समाधि श 15)। आत्मानुशासन-239-240, सयमात्माश्रये शुद्धोपयोग पिनर निजम् (उपा यशोविजयकृत ज्ञानसार प्रकरण–त्यागाष्टक–1)। कर्मादान-क्रियारोध स्वरूपाचरण च यत्। धर्म शुद्धोपयोग स्यात् सैष चारित्रसज्ञक (पचाध्यायी–2/763)। अध्यात्मभाषया पुन शुद्धात्माभिमुखपरिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसज्ञा लभते (समयसार-10/13 पर ता वृ)। आत्मा धर्म स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगम् (प्रवचनसार–तत्त्वदीपिका मे श्लोक स 5)। शुभोपयोगेऽप्युदासीनपरस्य साक्षात् शुद्धोपयोगाभिमुखस्य (नियम 100 पर ता वृ)।

5 नियमसार–185 पर ता वृ। जयति नियमसार, तत्फल चोत्तमाना हृदयसरसिजाते निर्वृते कारणत्वात् (नियम 185 पर ता वृ मे श्लोक स 305)। कज्ज णाणादीय (निशीथ-भाष्य-5249)।

6 वोच्छामि णियमसार (नियम 1)। नियमसार इत्यनेन शुद्धरत्नत्रय-स्वरूपमुक्तम् (नियम 1 पर ता वृ)। विवरीयपरिहरत्थ भणिद सारमिदि वयण नियम-3)।

7 परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मकमार्गो मोक्षोपाय, तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फल स्वात्मोपलब्धिरिति (नियम 2 पर ता वृ)। जयति नियमसार—निर्वृते कारणत्वात् (नियम 185 पर ता वृ मे श्लोक स 305)। भागवत शास्त्रमिद—निरतिशयनित्य शुद्धनिरञ्जननिजकारणपरमात्मभावनाकारणम् (नियम 187 पर ता व)। परमगुरुप्रसादासादित परमतत्व श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानात्मकशुद्धनिश्चयरत्नत्रयपरिणत्या निर्वाणमुपयाति (नियम 144 पर ता वृ)।

है। अशुभोपयोगादि में रत्नत्रय की जघन्यता बताई गई है (न कि उत्कृष्टता)।[1] शुद्ध रत्नत्रय/नियमसार की आराधना संयमी या या मुनियों द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[2]

उक्त अखण्ड / अद्वैत तत्व / परम तत्व तक पहुंचना क्रमिक सोपानो पर चढते हुए ही सम्भव होना है।[3] इसलिये पहले आत्मेतर पदार्थों या परद्रव्यसापेक्ष आत्म-परिणामों के प्रति दृष्टि 'गौण' रखते हुए, परद्रव्य-निरपेक्ष आत्म-परिणामो (स्वभाव) के प्रति अपनी दृष्टि केन्द्रित रखनी पड़ती है।[4] तदनन्तर, उन गुणों में भी भेद को गौण कर, शुद्ध चिद्-रूप अखण्ड / अद्वैत / परम तत्व के प्रति अपनी दृष्टि रखनी होती है।[5] इस साधना-क्रम में बढते हुए, अन्त मे ध्याता-ध्येय-विकल्परहित स्थिति तक पहुँचा जाता है।[6] संक्षेप में, धर्म ध्यान की श्रेणी से ऊपर उठ कर, शुक्ल ध्यान के विभिन्न सोपानो पर चढते हुए निर्विकल्प समाधि (पूर्ण वीत-रागता) प्राप्त करनी होती है।

उक्त प्रयास में, 'निश्चय नय' साधक की सहायता करता है।[7] इसलिए अध्यात्म-मार्ग

1. अप्रशस्तरागाद्यशुभभावेन ...... तस्य जघन्यरत्नत्रयपरिणतेर्जीवस्य (नियम-143 पर ता. वृ.।
2. मोक्षोपायो भवति यमिना शुद्धरत्नत्रयात्मा (नियम 4 पर ता वृ. मे श्लोक स 11)। साधयदि णिच्चसुद्धं साहू स मुणी णमो तस्स (वृ द्रव्यसंग्रह-54)। णियसुद्धप्पणुरत्तो बहिरप्पावत्थ वज्जिदो णाणी। जिणमुणिधम्मं मण्णदि गददुक्खो होदि सद्दिट्ठी (रयणसार-6)॥ झाणाज्झयणं मुक्खं जदिधम्मे (रयणसार-11)। शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भ-साधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव (प्रवचनसार-3/26 पर तत्त्वदीपिका टीका)।
3. समाधि शतक-4, 83-84, आत्मानुशासन-240, क्रमान्मुच्यते (आत्मानुशासन-241)। प्रवचनसार 1/15 पर तत्त्वदीपिका मे श्लोक)। योगी क्रमान्मुच्यते (लघुतत्त्वस्फोट-25/12), क्रमाद् विरमत. (लघुतत्त्वस्फोट-25/13)।
4. नियमसार-141-146 तथा टीका।
5. नियमसार-123 पर ता वृ। नियम-120 पर ता. वृ. मे श्लोक सं 192,
6. नियमसार-123 पर ता वृ। इदं ध्यानमिदं ध्येयमयं ध्याता फलं च तत्। एभिर्विकल्पजालैर्यत् निर्मुक्तं तन्नमाम्यहम् (नियम 120 पर ता. वृ मे श्लोक सं 193)। भेदवादाः कदाचित्स्यु-र्यस्मिन् योगपरायणे। तस्य मुक्तिर्भवेन्नो वा को जानात्यार्हते मते (नियम-120 पर ता. वृ. मे श्लोक सं. 194)॥
7. (क) आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या (समयसार कलश-13)। आत्मस्वभावं परभावभिन्न मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम्। विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति (समय. कलश-10)॥ शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः (समय 8/276-77 पर ता. वृ.)। गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूप भवति (समय. 1/13 पर ता वृ)। या खलु अबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्य असंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनय (समय. 1/14 पर आत्मख्याति)।
(ख) निश्चयनय की उपादेयता तथा व्यवहार नय की अनिवार्यता की स्थिति मुनि के लिए ही सम्भव है, श्रावक की स्थिति मे तो व्यवहारनय भी मुनि में साधक होने (उपयोगी) से पूर्णतः त्याज्य नहीं हो पाता। (देखें-प्रवचन-निर्देशिका आ. ज्ञानमती जी, पृ. 90-91)।

मे व्यवहार नय की अपेक्षा से 'निश्चय नय' की प्रमुखता बताई जाती है। इस प्रकार, मुनि-जीवन मे सर्वाधिक उपादेय वस्तु मोक्ष के उपाय का, अर्थात् परद्रव्यनिरपेक्ष आत्म-स्वभावभूत परिणाम रत्नत्रय' का आश्रयण है, और यही 'नियम' है।[1] इसीलिए, मोक्ष-माग व श्रामण्य (मुनि-चर्या)—दोनो को पर्यायवाची कहा गया है।[2] उक्त रत्नत्रयरूप की प्राप्ति मे परम पारिणामिक भाव (पचम भाव) से स्थित अनन्तचतुष्टयात्मक सच्चिदानन्द शुद्ध ज्ञान-चेतना-परिणाम का आश्रयण कारण है, अत इसे भी 'नियम' कहा जाता है।[3] इसे ही 'कारण परमात्मा' या 'कारण समयसार' कहा जाता है[4] (जिसकी सम्यग्-भावना 'शुद्धोपयोग' के बल से सम्भव है)।[5]

प्रस्तुत नियमसार' ग्रन्थ का पठन-पाठन 'कारण समयसार' की भावना को पुष्ट/समृद्ध करता है।[6] 'कारण समयसार' की भावना के साथ, रागादि को क्षीण करते हुए शुद्धात्मस्वरूप का अनुभवन—यही परम तत्वज्ञानी की स्वाभाविक चर्या है।[7] इस 'कारण समयसार' के आश्रयण से प्राप्य सहज परम वीतराग सुखात्मक अन्तस्तत्व या क्षायिक भाव रूप विशुद्ध ज्ञान चारित्रादि की अभिव्यक्ति या मोक्ष-प्राप्ति ही 'कार्य

---

1 नियमसार–3,

2 सवथा मोक्षमार्गापरनाम्न श्रामण्यस्य सिद्धये (प्रवचन 3/32 पर तत्वदीपिका)।

3 य सहजपरमपारिणामिकभावस्थित स्वभावानन्तचतुष्टयात्मक शुद्धज्ञानचेतनापरिणाम स नियम (नियम 3 पर ता वृ)।

4 सच्चिदानन्दमय-कारणसमयसारस्वरूपे तिष्ठन्ति ये तपोधना (नियम 92 पर ता वृ)। सहजपरमपारिणामिकभावस्वभावस्य कारणसमयसारस्वरूपस्य (नियम 13 पर ता वृ) परम॰ पारिणामिकभावस्वभावकारणपरमात्मा (नियम 38 पर ता वृ)। द्र नियमसार-50 पर ता वृ। नियम 110 पर ता वृ तथा वहा श्लोक स 160,

5 निजकारणपरमात्मतत्त्व नित्य शुद्धोपयोगबलेन सभावयति तस्य नियमेन शुद्धनिश्चय-नियमो भवति (नियम 120 पर ता वृ)।

6 भावत शास्त्रमिद निरतिशयनित्यशुद्धनिरजननिजकारणपरमात्मभावनाकारण (नियम 187 पर ता व)। अनन्त चतुष्टयात्मकनिजात्मध्यानोपन्यासोऽयम् (नियम 96 पर ता वृ)।

7 यस्तु परमतत्वज्ञानी जीव स पूर्वोक्त व्यवहार निश्चयकारणसमयसाराभ्या बाह्याभ्यन्तर-रत्नत्रयलक्षणाभ्या सहित सन् रागद्वेषौ न करोति, किन्तु स्वस्थभावेन शुद्धात्मस्वरूप-मनुभवन्ति (समय 10/373–82 पर ता वृ)। अनादिममससाररोगस्यागदमुत्तमम्। शुभाशुभविनिर्मुक्तशुद्धचैतन्यभावना (नियमसार-111 पर ता वृ श्लोक स 167)।

परमात्मा' या 'कार्य समयसार' कहा गया है।[1]

'नियमसार' में 'कारण समयसार' की भावना को 'सोऽहम्' की अनुभूति से जोड़ा गया है।[2] इसी प्रकरण में टीकाकार का यह स्पष्टीकरण भी यहां मननीय है कि उक्त भावना की शिक्षा मुख्यत: पूर्णत: अन्तरात्मा (श्रेष्ठ अन्तरात्मा) को लक्ष्य कर कही गई है। इस कथन से भी पूर्व-प्रतिपादित इस मत की स्वत: पुष्टि हो जाती है कि इस ग्रन्थ का मुख्य अधिकारी संयमी मुनि ही है।

रत्नत्रय और आत्मा में अभेद है इसलिए 'नियम' एक प्रकार से 'आत्माराधना' ही है।[3] इस आत्माराधना में तत्पर निश्चय-नयावलम्बी साधक की सभी आवश्यक क्रियाएं भी मुख्यत: शुद्धात्म-भावना की सिद्धि के प्रति समर्पित हो जाती हैं[4], और धीरे-धीरे अन्तर्मुखता या आध्यात्मिकता रूप धारण करती हुई 'नियम' में विलीन होती जाती हैं[5], अर्थात् आत्म-एकाग्रता या ध्यान के स्वरूप में परिवर्तित होती जाती है।[6] वास्तव में 'नियम' की पूर्णता व उत्कृष्टता ध्यान व समाधि तक पहुंच कर ही सम्भव

---

1. द्र. नियमसार-50 पर ता. वृ.। समयसार-10/373–82 पर ता वृ।
पचाना भावनां मध्ये क्षायिकभाव. कार्यसमयसारस्वरूप..........भगवत: सिद्धस्य वा भवति (नियमसार-41 पर ता वृ)। एको भाव स जयति सदा पचम. शुद्ध:शुद्ध (नियमसार–110 पर ता वृ मे श्लोक स. 160)। त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकस्वरूपनिजकारणपरमात्म भावनोत्पन्न कार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वर (नियम. 7 पर ता. वृ)। कार्य तावत् सकलविमलकेवलज्ञानम्। तस्य कारण परमपारिणामिक भावस्थितत्रिकालनिरूपाधिरूपं सहजज्ञान स्यात् (नियम-10 पर ता वृ.)। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूप कारणसमयसार: (समय 10/349-50 पर ता वृ)। केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसज्ञा (समय 2/63-64 पर ता. वृ.)।

2 सोहं इदि चिंतए णाणी (नियमसार-96-97)। केवलज्ञान केवलदर्शन केवलसुख केवलशक्ति-युक्तपरमात्मा य सोऽहम् इति भावना कर्तव्या (नियम 96 पर ता वृ.)। सोऽहमित्यात्त-संस्कारस्तस्मिन् भावनया पुन:। तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मन.। स्थितिम् (समाधि-शतक-28)। य. परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत (समाधि:श 31)।

3. नियमेन स्वात्माराधन-तत्परता (नियम. 123 पर ता वृ)।

4. शुद्धात्मभावना-साधनार्थं बहिरंगव्रत तपश्चरणदानपूजादिक करोति स परम्परया मोक्षं लभते (समय 4/146 पर ता वृ)।

5. नियमसार-109 तथा 123 पर ता. वृ.।

6. अत: पचमहाव्रतपचसमिति निगुप्ति प्रत्याख्यानप्रायश्चित्तालोचनादिक सर्वं ध्यानमेव (नियम:. 119 पर ता. वृ)। निखिलबाह्यक्रियाकाण्डाडम्बरविविधविकल्प-महाकोलाहलप्रतिपक्षमहा-नन्दानन्दप्रदनिश्चय धर्मशुक्ल ध्यानात्मकपरमावश्यककर्म भवति (नियम. 146 पर ता वृ.)। द्र नियमसार-93, 151 तथा 154 पर ता वृ।

हो पाती है।[1] ध्यान, समाधि, तथा अन्त में निर्विकल्पकता की दिशा में बढते रहने वाले मुनि की जीवन-चर्या व आवश्यक क्रियाओ मे होने वाले परिवतन को इगित करने के लिए, विशिष्ट क्रियाओ के पहले 'निश्चय' विशेषण प्रयुक्त होता है। जैसे—निश्चय-भक्ति, निश्चय चारित्र, निश्चय समिति, निश्चय गुप्ति, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय सामायिक आदि।[2]

श्रा कुन्दकुन्द की नियम-सम्बन्धी उक्त व्याख्या वैदिक धर्म मे भी मान्य रही है। उदाहरणार्थ, निशिखिब्राह्मणोपनिषद् मे एक स्थल पर यम-नियमो का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि देहेन्द्रियों मे वैराग्य 'यम' है, परम तत्व मे अनुरक्ति 'नियम' है।[3] अत यह सम्भावना व्यक्त करना उचित होगा कि श्रा कुन्दकुन्द तथा श्रमण परम्परा में मान्य नियम-स्वरूप ने वैदिक धर्म के क्षेत्र को भी प्रभावित किया है।

★

उपाचार्य (रीडर) एव अध्यक्ष
(जैन दशन विभाग)
श्री ला ब शास्त्री केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ,
(शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार)
कटारिया सराय, नई दिल्ली–110016



1 सुहअसुहवयणरयण रायादीभाववारण किच्चा। अप्पाण जो झायदि तस्स दु णियम हवे णियमा (नियमसार–120)। पुनरत्नवरतमखण्डाद्वैतसुन्दरानन्दनिष्यन्द्यनुपम निरजननिजकारण-परमात्मतत्त्व नित्य शुद्धोपयोगबलेन सभावयति तस्य नियमेन शुद्धनिश्चयनियमो भवति (नियम० 120 पर ता० वृ०)।

2 नियम० 154 आदि पर ता० वृ०

3 देहेन्द्रियेषु वैराग्य यम इत्युच्यते बुधै अनुरक्ति परे तत्वे सतत नियम स्मृत (निशिखिब्राह्मणोप-निषद्-28-29)।

धनपालकृत :

"भविसयत्त कहा" में सुभाषित रचना

—डा० प्रेमचन्द रांवका

अपभ्रंश के कथा-काव्यों/चरित-काव्यों मे 'भविसयत्त कहा' का महत्त्वपूर्ण, उल्लेखनीय स्थान है। 10 वी शताब्दी के महाकवि धनपाल की यह एकमात्र विख्यात कृति है जो धर्म-प्रेमाख्यनक चरित-काव्य है।

पं. राहुल साकृत्यायन के अनुसार धक्कड़ वैश्य वंशोद्भवी धनपाल दिगम्बर जैन और गुजरात निवासी थे।[1] डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल इन्हें राजस्थान के चित्तौडगढ का निवासी मानते है क्योंकि धक्कड़ वंश प्राय: राजस्थान मे ही मिलता है। फिर 'भविसयत्त कहा' मे स्थान-स्थान पर उपलब्ध राजस्थानी शब्द और सस्कृति के अभिव्यंजक निदर्शन इस तथ्य के साक्षी हैं।[2] श्री सी. डी. दलाल और पी. डी. गुणे तथा प्रो. एच. सी. भायाणी धनपाल की भाषा को हेमचन्द्र की भाषा से पूर्ववर्ती बताते हुये तथा उन पर स्वयम्‌ू का प्रभाव बतलाते हुए 'धनपाल' को स्वयंभू और हेमचन्द्र के मध्य का मानते हैं।[3]

कविवर 'धनपाल' पर सरस्वती की अपार कृपा थी। उन्हे अपनी विद्वता पर बडा गर्व था। बड़े गौरव के साथ उन्होने अपने को सरस्वतीपुत्र घोषित करते हुए लिखा है—'सरसइ बहुलद्ध महावरणे'। इनके पिता को नाम माएसर (मायेश्वर) और माता का नाम धरणसिरि (धनश्री) था।[4]

आलोच्य महाकवि धनपाल की 'भविष्यदत्त कथा' भारतीय प्राचीन कथा-काव्यों के प्रसिद्ध परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है जिसे उन्होने स्वान्त: सुखाय और परजन हिताय दो खण्डों और बावीस सन्धियों में रची—

विहि खंडहि बावीस संधिहि—
परिचिंतिय नियहेउ निबंधहि।9।20।

वैसे 'भविसयत्त कहा' की समग्र कथा मे तीन भाग दिखायी पड़ते हैं—

1. वणिक् पुत्र भविसयत्त एवं उसकी सम्पत्ति का वर्णन, (शृंगार रस)।
2. पोदनपुर और गजपुर के राजा और युद्ध वर्णन एवं उसमे भविसयत्त का सक्रिय भाग लेना तथा विजयी होना। (वीर रस)।

---

1. अपभ्रंश और अवहट्ठ : एक अन्तर्यात्रा : डॉ० शम्भुनाथ पाण्डेय।
2. राजस्थान का जैन साहित्य : प्राकृत भारती, जयपुर।
3. अपभ्रंश महाकाव्य : प्रो० हरिवंश कोछड़ .
4. गायकवाड़ ओरियंटिल सीरिज, ग्रंथांक—20, 1923 एवं 1967 में प्रकाशित : धनपाल —कृत भविसयत्तकहा।

3 भविमयत्त, भविस्यानुरूपा, कमलश्री आदि के पूर्वजन्म का वणन, (शान्तरस)।

श्रेणिक राजा के प्रश्न के उत्तर मे गौतम गणधर ने श्रुत पचमी के माहात्म्य प्रतिपादन के सन्दभ मे यह कथा कही है। इसका अपर नाम सुय पचमी कहा' है। कथा के आरम्भ मे इसका निर्देश मिलता है और इसकी परि-समाप्ति भी इस व्रत के स्मरण से होती है।[5]

22 सन्धियो मे विभक्त इस कथा-काव्य मे कार्तिक शुक्ला पचमी अपर नाम श्रुत पचमी, अपर नाम ज्ञान-पचमी के फल-वर्णन मे वणिक् पुत्र भविष्य दत्त राजा की कथा है—

इय भविसत कहाए पयडिय धम्मत्थकाम मोक्खाए।
बुह धणवाल कयाए पचमिफल वण्णाए ॥*

जीवन के चार पुरुषार्थों/चार फलों-धम अर्थ काम और मोक्ष को प्रदान करने वाले इस विश्रुत कथा ग्रथ की उल्लेखनीय विशेपता है लौकिक कथा रस का समावेश और लौकिक चरित की स्थापना। इस काव्य को लिखकर कवि ने परम्परागत ख्यात वृत्त नायक पद्धति के स्थान पर अपभ्रश मे लौकिक नायक की परम्परा का एक प्रकार से सूत्रपात किया। इससे पूव कथा ग्रथो की परम्परागत पद्धति थी—ख्यातवृत्त राजाओ के चरित्र-उद्घाटन की। धनपाल ने पूव परम्परा को तोडकर मध्यम वर्ग के सामान्य वणिक् पुत्र की कथा कहकर लौकिक नायक के चरित्राकन की परम्परा स्थापित की है। इसकी दूसरी विशेपता है धम के आवरण में लौकिक तथा साहसिक प्रेम कथा के सम्यक् निर्वाह की। अपने पति और पुत्र की हित कामना के लिए स्त्रिया अनेक प्रकार के व्रत, उपवास, पूजा-प्रार्थना आदि करती हैं। इस कृति मे-मा कमलश्री अपने पुत्र 'भविस्य' की मगल-कामना के लिये 'श्रुत-पचमी' का व्रत करती है। जिसका फल 'भविस्य' को सफल बनाता है। अपने सयमी जीवन एव णमोकार मत्र के प्रति अटूट आस्था के कारण वह जीवन साथी के रूप में परम सुन्दरी "भविष्यानुरूपा" को प्राप्त करता है।

कवि लोक कथा और धार्मिक कथा को एक साथ मिलाकर जहा पाठक को लोक-कथा के सहज रस से आप्लावित करना चाहता है वहीं आध्यात्मिक रस से उद्बुद्ध भी। कथा के आरम्भ वाले अश मे गृहस्थ जीवन की मार्मिक-झाँकिया हैं। प्रेम, उपेक्षा, सौतिया डाह, ईर्ष्या, कटुता, वात्सल्य, वियोग, सयम, सयोग, राजभक्ति धार्मिक आस्था आदि के चित्र ममस्पर्शी हैं। भविष्यदत्त अपनी सौतेली माता और सौतेले भाई से सताया जाकर भी अपनी धर्मनिष्ठ भावना के कारण अन्त मे सुखी होता है। सम्पूर्ण कथा-काव्य मे यथाथ और आदश का सम्यक् समन्वय है। कवि ने साधु असाधु दोनो प्रकार की प्रवृत्ति वाले पात्रो का चरित्र चित्रित किया है। भविष्य दत्त, कमलश्री, भविष्यानुरूपा साधु पात्र हैं तो धनपाल, सरूपा, बन्धुदत्त आदि असाधु पात्रो की कोटि मे आते हैं।

5 जिण सासणि सातु णिट्ठअपावकलकमलु।
सम्मत निसेसु निसुणहु सुय पचमिहि फलु ॥1॥ ॥1॥
निसुणत पढतह परिचिततह अप्पहिय।
धणवालि तेण पचमि पच पयार किय ॥22॥1॥ भविसयत्त कहा—
महाकवि ब्रह्म जिनदास ने भी स 1520 के लगभग "भविष्यदत्त रास" की रचना की है इसमे भी श्रुत पचमी का महत्त्व बताया है। देखिये लेखक का शोध ग्रथ।
* प्रत्येक सन्धि के अन्त मे यह उल्लेख मिलता है।

'भविष्यदत्त कथा' मे प्रेम, शौर्य और भक्ति-भावना का अद्भुत सामञ्जस्य है। आरम्भ से अन्त तक पदे-पदे कविवर धनपाल ने जीवन-व्यवहार की अनुभूत सूक्तियों का सम्यक् समावेश किया है। कथा की सोलहवी सन्धि–"भविष्यदत्त तिलकपुरी धर्माख्यानश्रवणम्" और अठारहवी सन्धि "भविष्यदत्त वैराग्य वर्णनम्" तो मानो सुभाषितों का भण्डार ही है। कथा का तृतीय भाग शान्त रस से परिपूर्ण है। संसार की असारता, करुणा, अहिंसा, जीवन-व्यवहार, कर्मशीलता, विद्वता, मोक्ष, जीवन की सार्थकता जिनभक्ति, दानशीलता, पाप निवृत्ति, परमार्थ आदि विषयों पर कवि का मार्मिक संबोधन हृदयग्राही है।

"भविष्यदत्त कथा में प्रयुक्त कतिपय सुभाषित यहां प्रस्तुत हैं—

सपत्नियों के अन्तर्द्रोह के विषय मे कवि की मर्मोक्ति है—

को जाणइं कण्ण महाविसइ अणुदिणु दुम्मइ मोहियइं।
समविसम सहावहिं अंतरइं दुट्ठसवत्तिहि दोहियइं ।।3–10।।

—कानो के लिये महाविष के समान रात-दिन दुर्मति से मोहित सम-विषम स्वभाव वाली दुष्ट सपत्नियो के अन्तर्द्रोह को कौन जानता है?

'लोभ' के विषय में कवि का कथ्य है—

"मूलु वि जाइ लाहु चिंतत हो"—3.11

—लोभ की विशेष चिंता से मूल भी चला जाता है।

धनपाल कवि सुख-दुःख को जीवन का सहज अंग मानते हैं—

अणइच्छियइं होंति जिम दुक्खइं सहसा परिणवंति तिह सोक्खइं।

—जैसे दुःख अनिच्छित आते है, वैसे ही सहसा सुख भी मिल जाते हैं।

सौतेले भाई बन्धुदत्त के साथ देशान्तर जाने वाले अपने पुत्र भविष्य को मां कमलश्री के उपदेश में एक ओर करुणापरक वात्सल्य भाव है तो दूसरी ओर सामाजिक-कर्तव्य बोध का उत्तरदायित्व पूर्ण निर्वाह—

जोव्वण वियार रस वस पसरि सो सूरउ सो पंडियउ।
चल मम्मण वयणुल्लावए हिं जो परतियहि ण खंडियउ ।।18।।
पुरिसि पुरिसिव्वउ पालिव्वउ परधणु परकलत्तु णउ लिव्वउ।
लं धणु जं अविणासियधम्मे लब्भइ पुव्व किकय सुहकम्मे।
तं कलत्तु परि ओसियगत्तउ जं सुहि पाणिग्गहणि विढत्तउ।
णियमणि जेण संक उपज्जइ मरणंति वि ण कम्मु तं किज्जइ।
अण्णु वि भणमि पुत्र परमत्थे जइवि होहि परिपुण्ण महत्थे।
तरुणि तरल लोयण मणि भाविउ पहु सम्माण दाण गुण गाविउ।

तहिंमि कालि मम्हहिं सुमरिज्जहि एक्कवार मुह दसणु दिज्जहि ।
परधणु पायधूलि मणिज्जहि परकलत्तु मइ समउ गणिज्जहि ।
जपिज्जहि जण णयणा णदणु जिणहु तिकाल करिज्जहि वदणु ॥

—वही शूर और पण्डित है जो यौवन, विकार और (शृगार) रस के वश मे नहीं होता, कामदेव से चलायमान नही होता, खडित वचन नही बोलता और पर स्त्रियो को खण्डित नहीं करता। पुरुष वही है जो पुरुषत्व को पालता है, पर-धन और पर-कलत्र को ग्रहण नही करता, अविनाशी धर्म ही जिसका धन है पूर्वकृत शुभ कर्मों को प्राप्त करता है, सुख पूर्वक पाणिग्रहण विहित नारी मे ही जो परितोष (सन्तोष) प्राप्त करता है। अपने मन मे जिससे शका उत्पन्न हो, उस काय को मर कर भी नही करना चाहिये। हे पुत्र! यद्यपि तुम परिपूर्ण और महार्य/समर्थ/समझदार हो, तो भी मैं और भी परमार्थ की बातें कहती हू—तरुणी के तरल लोचनो मे मन न लगाना, प्रभु का सम्मान करना, दान के गुण गाना। उस समय मुझे स्मरण करना, एक बार मुझे दर्शन देना। पराये धन को अपने पाव की धूलि के समान समझना। पर-नारी को माता के समान समझना। नेत्रो को सफल, आनन्दित करने वाले जिनेन्द्र को पूजना और त्रिकाल वन्दना करना। (3 18)

मा कमलश्री का पुत्र भविष्यदत्त को दिया गया उक्त सम्बोधन किसी भी प्रकार से बाण भट्ट की कादम्बरी मे युवराज चन्द्रापीड को दिया गया शुकनासोपदेश से कम महत्त्व का नहीं है।

दैव और पुरुषार्थ मे धनपाल 'पुरुषार्थ' को अधिक महत्त्व देते हैं—

दइवायत्तु जइवि विलसिव्वउ तो पुरिसिं ववसाउ करिव्वउ ।3 9।

—यद्यपि सारे सुख-कर्म दैवाधीन हैं तथापि पुरुष को व्यवसाय/उद्योग/कर्म करना ही चाहिये।

उजाड तिलक द्वीप मे भटकता हुआ भविष्यदत्त अपने दुर्दिनों के लिये अपने बुरे कर्मों को ही दोषी मानता है—

ण जता ण वित्त ण मित्त ण गेह ण धम्मं ण कम्म ण जीय ण देह ।
ण पुत्त कलत्त ण इट्ठु पि दिट्ठु गय गयउरे दूर देसे पइट्ठु ॥3 26॥

—अपने निवास से दूर देश में जाने पर न यात्रा, न धन, न मित्र, न घर, न धम, न कम न जीवन, न शरीर, न पुत्र, न कलत्र और न इष्टजन ही मिलते हैं।

खय जाइ नूण अहम्मेण धम्म विणट्ठें ण धम्मेण सव्व अकम्म ।3 26।

—अधम से धम का क्षय होता है और अकम से धर्म नष्ट होता है।

परहो सरीरि पाउ जो भावइ त तासइ वलेवि सतावइ ।6 10।

—जो किसी दूसरे प्राणी के प्रति पापाचरण का विचार करता है, वह पाप पलटकर उसे ही पीडित कर देता है।

अहो चंदहो जोन्ह कि मइलज्जइ दूरि हुअ ।।21.3।।

दूर होने पर चन्द्रमा की चांदनी कैसे मलिन हो सकती है।

किं घिउ होइ विरोलिए पाणिए ।।2.7।।

क्या पानी विलोने से घी निकल सकता है ?

जहा जेण दत्तं तहा तेण पत्तं इमं सुच्चए सिठ्ठ लोएण वुत्तं ।
सुपायन्नवा कोद्दवाजत्त माली कहं सो नरो पावए तत्थ साली ।।12.3।।

—जो जैसा देता है वैसा ही पाता है। यह शिष्ट लोगों ने सच कहा है। जो माली कोद्रव बोएगा, वह शाली कहां से प्राप्त कर सकता है। संसार की असारता पर कवि का सम्बोधन है :—

संसारि असारि जीउ असासउ चलु विहउ ।
त किज्जइ मित्त जं पाविज्जइ परम पउ ।।1।।

—इस असार संसार में जीवन शाश्वत नहीं है। वैभव चंचल है। अतः हे मित्र, वह कार्य कीजिये, जिससे परमपद प्राप्त हो।

यदि यह जीवन ही स्थायी होता और इसका आनन्द अनन्त और नित्य होता तो बडे-बडे ऋषि-ज्ञानी इसे क्यों त्यागते ? यह विचार भविष्यदत्त के अन्तस्तल को छू जाता है और तब वह जीवन के सुख-दुःख की खोज मे लग जाता है—

अहो नरिंद संसारि असारइ, तक्खणि दिठ्ठ पणठ्ठ वियारइ ।
पाइवि मणुअजम्मु जणवल्लहु वहुभव कोडि सहासि दुल्लहु ।
जो अणुवंधु करइ रइलंपडु तहो परलोए पुण वि गउ संकडु ।
जइवल्लह वि ओउ नइ दीसइ जइजोव्वण जराए न विणासइ ।
जइ ऊसरइ कयावि न संपय पिम्म विलास होंति जइ सासय ।
तो मिल्लिवि सुवन्न मणिरयणाइं मुणिवर किं चरंति तव चरणाइं ।
एय ए उ परियाणिवि वुज्झहि जाणतोवि तोवि म मुज्झहि ।।

अहो नरेन्द्र ! यह संसार असार है। तत्क्षण देखते-देखते दृष्टि पथ मे विकारी और विनष्ट/विलीन हो जाने वाला है। हे जनवल्लभ ! मनुष्य-जन्म की प्राप्ति सहस्रो-करोड़ों वर्षों मे भी दुर्लभ है। जो रति-लम्पट होकर (विषय भोगो मे) कर्म-बन्ध करता है; उसका परलोक पुनः संकटापन्न हो जाता है। (इस संसार मे) यदि प्रिय का वियोग नही दिखायी दे, यदि यौवन वृद्धावस्था

में विनष्ट न हो, यदि सम्पत्ति कदापि समाप्त न हो, यदि प्रेम-विलास शाश्वत रहे, तो सुवर्ण-मणि-रत्नो को त्यागने वाले मुनिवर यह मार्ग (मुनि-पथ) क्यो अपनाते ? इस प्रकार ये पदार्थ समझे जावें और जानते हुए भी मनुष्य इनसे मोहित न होवे। (18 13)

जीवहो ससारि फुडु कम्मइ कम्महो कारणु ।
भउ दरिसिउ जेण विप्पहु त जि जाउ सरणु ॥18 1॥

—यह जीव ससार मे भटकता रहता है। इस कार्य मे उसके कर्म ही कर्मबन्धनो का कारण है। अत उस गुरु की शरण ली जाय जिससे भव-स्वरूप का दर्शन होवे।

—इस प्रकार महाकवि धनपाल ने अपनी अनुपम कृति 'भविसयत्त कहा' मे यथा-स्थान सुभाषितो की सरचना कर अपने कवि कर्म की कुशलता का पूर्ण निर्वाह किया है। इन सुभाषितो के स्वाध्याय से हमें जीवन-व्यवहार के परिज्ञान के साथ निज पर हित-सम्पादन का सम्यक् सम्बोधन प्राप्त होता है। कवि और काव्य का यही धर्म है कि मानव मात्र को कुत्सित प्रवृत्तियो से हटाकर सन्मार्ग की ओर उन्मुख करे। कविवर धनपाल ने अपने इस कवि-धर्म मे सुभाषितो के प्रयोग से सफलता प्राप्त की है।



ज ज समय जीवो आविसइ जेण जेण भावेण ।
सो तमि तमि समए सुहासुह बधए कम्म ॥

जिस-जिस समय मे जीव जिस जिस भाव से युक्त होता है, उस-उस समय मे वह (भावानुसार) शुभ-अशुभ कर्म को बाधता है।

कम्म चिणति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परव्वसा होति ।
रुक्ख दुरुहइ सवसो, विगलइ स परव्वसो-तत्तो ॥

(जब व्यक्ति) कर्म को चुनते है, (तो) (वे) स्वाधीन (होते हैं), किन्तु उसके विपाक* मे (वे) पराधीन होते हैं, (जैसे) (जब कोई) पेड पर चढता है (तो) (वह) स्वाधीन (होता है), (किन्तु) (जब) उससे गिरता है, (तो) वह पराधीन (होता है)।

* सुख दुःख रूप कर्म-फल ।

ज्ञान विज्ञान का विश्वकोश : जैनागम भगवतीसूत्र

☐ डॉ. लक्ष्मीनारायण दुबे

अंग साहित्य के बारह ग्रन्थों मे, विषय वैविध्य की दृष्टि से विद्वानों ने स्थानाग और भगवतीसूत्र को विश्वकोश के समान महत्ता प्रदान की है। एक ही स्थानांग मे कम-से-कम बारह सौ विषयो का वर्गीकरण हुआ है । आगमो मे ऐसे सार्वभौम सिद्धातो का विश्लेषण एवं समीक्षा हुई है जो कि आधुनिक विज्ञान-जगत् मे मूलभूत मान्यताओ के रूप मे अविगृहीत है । स्थानांग अथवा भगवतीसूत्र के सदृश्य एक ही अंग का सर्वांगीण अनुशीलन कर लेने से सहस्त्राधिक अनेकविध प्रतिपाद्यो के भेद-प्रभेदों का गम्भीर ज्ञान और साथ ही भारतीय ज्ञान सम्पदा, गौरव एवं सौष्ठव का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिचय हो जाता है ।

जैन साहित्य आगम और आगमेतर दो भागो मे विभक्त है। जैन वाङ्मय का पुरातन भाग आगम के रूप मे सम्बोधित है । आगम साहित्य चार विभागों मे विभाजित है–अंग, उपांग, छेद और मूल। अग-प्रविष्ट साहित्य तीर्थंकर भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य गणधरों द्वारा रचित होने के कारण सर्वाधिक मौलिक और प्रमाणिक माना जाता है । अर्हंत अपने अनंत ज्ञान और अनत दर्शन के प्रकाश मे ब्रह्माण्ड-दर्शन कर सत्य को प्रोज्ज्वल एवं पुनीत रूप मे उद्घाटित करते है और गणधर शासन-हित के निमित्त उसे सूत्र रूप मे गूथते हैं । यह विशाल, विराट, महान्, उदात्त तथा दिव्य ग्रन्थ-राशि सूत्र अथवा आगम के नाम से अभिहित है। अंग-प्रविष्ट में द्वादशागी या गणिपिटक नाम से बारह ग्रन्थ हैं जिनमें भगवतीसूत्र या व्याख्या प्रज्ञप्ति का अत्यधिक महिमाशाली स्थान है। इस अग मे 2 लाख 28 हजार पद है । इसमें साठ हजार प्रश्नो द्वार जीव, अजीव आदि पदार्थों का प्रतिपादन है ।

पूर्वों के विषय गहन तथा भाषा दुर्बोध होने के कारण ही अल्पमति लोगों के लिए द्वादशागा रची गयी। जैन आगमों की भाषा अर्ध मागधी है। इसे भगवतीसूत्र (5/93) मे दिव्य भाषा कहा गया है। यह प्राकृत का ही एक रूप है। इसमें 18 देशी भाषाओं के लक्ष्य समाहित हैं। ये आगम ई०पू० छटी शताब्दी मे लिखे गये।

भगवान महावीर का लक्ष्य था—सबको जगाना। जगाने के लिए जनभाषा ही जन-सम्पर्क का माध्यम बन सकती है। प्राकृत का तात्पर्य है: प्रकृति-जनता की भाषा। भगवान् महावीर जनता के लिए, जनता की भाषा मे बोले थे इसीलिए वे जनता के पूरी तरह बन गए। आगम ग्रन्थों मे गद्य, पद्य और चम्पू—इन तीनों ही शैलियो का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण आगम-वाङ्मय विशुद्ध आध्यात्मिकता का परिचायक है। सम्पूर्ण आगम साहित्य उदाहरणों और उपमाओ का आगार है। इनमे एक ओर मूलतः अध्यात्म शास्त्र का स्वरूप है तो दूसरी ओर चैतन्य जागरण-सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष प्राप्ति और तदुपरान्त आधुनिक युग की सर्वाधिक चर्चित और मान्य समस्त ज्ञान-शाखाओं का विश्लेषण तथा विश्वसनीय स्वरूप।

न्यूटन ने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की स्थापना की थी परन्तु भगवतीसूत्र (2/119) से प्रतिपादित होता है कि परम वैज्ञानिक तीर्थंकर महावीर ने विभिन्न पृथ्वियों के गुरुत्वाकर्षण की प्रभाव-व्याप्ति तथा अन्य पृथ्वियों के निवासियों पर होने वाले उसके प्रभाव का विवेचन आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही कर दिया था।

भगवतीसूत्र तथा अन्य जैनागमों के अध्ययन तथा जैन-परिपाटी का पूर्ण परिचय प्राप्त किए बिना हिन्दी साहित्य का प्रमाणिक तथा वस्तुपरक इतिहास भी नहीं लिखा जा सकता। आगम वाङ्-मय ने भारतीय साहित्य को प्राणवत बनाया है। युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी की वाचना प्रमुखता में युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी द्वारा सम्पादित और जैन विश्वभारती, लाडनू द्वारा प्रकाशित अथवा प्रकाश्यमान आगम साहित्य सकल्पपूर्वक इस क्षेत्र में हमें नये आयाम और नूतन गवाक्ष प्रदान कर सकता है।

आगम युग के जैन न्याय से अवगत होने और विशेषकर जैन-न्याय के क्रमिक विकास में भगवती-सूत्र की अपरिहार्य स्थिति है। भगवतीसूत्र (8,2, 317) ज्ञान के वर्गीकरण में प्रत्यक्ष और परोक्ष के विभागों को मुख्य नहीं मानता।

भगवतीसूत्र (12/41-65) से ही यह विदित होता है कि भगवान् महावीर की नारी विषयक कितनी उदार चेतना एवं कल्याणमयी दृष्टि थी। जयंती आदि श्राविकाओं की प्रौढ तत्व-ज्ञान की सूचना भगवतीसूत्र से ही ज्ञात होती है।

भगवतीसूत्र ने ही लिपि के इतिहास को हमारे समक्ष उजागर किया। जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का श्रीगणेश प्रागैतिहासिक है। भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को अट्ठारह लिपियां सिखलाई थी। भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में ही ब्राह्मीलिपि का अभिवादन प्राप्त होता है जिसकी पार्श्वभूमि में लेखन की गाथा है। भगवती का उपांग सूर्य प्रज्ञप्ति है।

भगवतीसूत्र जैनदर्शन के मनन और मीमांसा से परिप्लावित है। गतिसहायक तत्व (धर्मास्तिकाय) और स्थिति सहायक तत्व (अधर्मास्तिकाय) से भगवान् महावीर ने जीवों को बड़े लाभ निरूपित किये हैं (भगवती 13/55-57)। आकाश को पुद्गल का संगमच बताया गया है (भगवती 13/58)। सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा काल कहलाता है। काल का प्रमुख रूप अद्धा-काल ही है। भगवतीसूत्र (11/128) से ही विदित होता है कि समय से लेकर पुद्गल-परावर्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा काल के हैं। विज्ञान जिसको मैटर और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन दर्शन के पुद्गल का सम्बोधन प्राप्त है। भगवतीसूत्र (8/499) बताता है कि जैन शास्त्रों में अभेदोपचार से पुद्गल युक्त आत्मा को पुद्गल कहा है। भगवतीसूत्र (5/154-164) ही मार्ग को व्यापक तथा प्रशस्त बनाता है कि जैन-परिभाषा के मुताबिक अछेद्य अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। भगवतीसूत्र (5/33) के अनुसार, परिमण्डल, वृत्त, त्र्यश, चतुरश्र आदि संस्थान पुद्गल में ही होते हैं फिर भी वह उसके गुण नहीं हैं। पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी चरम भी और अचरम भी(14/49,14/51)। भगवतीसूत्र (8/1) ने परिणाम की अपेक्षा पुद्गल को तीन प्रकार का माना है वैस्रसिक, प्रायोगिक और मिश्र। पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थितियां प्रतिपादित हैं द्रव्य-स्थानायु, क्षेत्र-स्थानायु, अवगाहन-स्थानायु और भाव-स्थानायु (5/181)।

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता अलबर्ट आइंस्टीन ने लोक का व्यास एक करोड अस्सी लाख प्रकाश

वर्ष माना है। भगवतीसूत्र की मान्यता है कि —कालतों लोए अणंते, भावतों लोए अणंते (2/45)।

स्याद्वाद जैनदर्शन का एक अभूतपूर्व प्रमेय है। भगवतीसूत्र (8/495) के अनुसार, कदाचित् के अर्थ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है।

भगवतीसूत्र (8/450) इस महत्त्वपूर्ण अवदान को रेखांकित करता है कि ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है। ज्ञान-आराधना, दर्शन-आराधना और चरित्र-आराधना ही श्रेयस्कर है। सम्यग्दर्शी देवगति और मनुष्य गति के अतिरिक्त अन्य किसी भी गति का आयु-बंध नहीं करता। भगवान महावीर का दर्शन गुण पर अवलम्बित था।

प्रख्यात मनोविज्ञानवेत्ता सिगमन फ्रायड के स्वप्न-विज्ञान की चर्चा भी भगवतीसूत्र मे मिलती है (16/81, 16/76,77)। फ्रायड के अनुसार स्वप्न मन की हुई इच्छाओं के फल हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोहकर्म और पूर्व संस्कार के परिणाम है।

भगवतीसूत्र जैनदर्शन को जीवन की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत करता है। उसमें प्रश्नोत्तर शैली को अपनत्व प्रदान किया गया है। वह जीवनवाद से स्याद्वाद की सार्थक तथा सांगोपांग यात्रा करता है। जैनदर्शन तथा आध्यात्मिक पद्धति को इस ग्रन्थ के उपजीव्य बनाने पर ही प्रस्तुत कर सकते हैं। यह जैन वाङ्मय की एक बहुमूल्य थाती और भावी उपस्थापनाओं तथा उद्भावनाओं के लिए गंगोत्री है। □

राष्ट्रीय प्राध्यापक
ब-6 प्रोफेसर बंगले,
सागर विश्वविद्यालय, सागर (म०प्र०)

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥55॥

सब ही जीव जीने की इच्छा करते है, मरने की नहीं, इस लिए संयत (व्यक्ति) पीड़ादायक प्राणवध का परित्याग करते हैं।

जीववहो अप्पवहो, जीवदया अप्पणो दया होइ।
ता सव्वजीवहिंसा, परिचत्ता अत्तकामेहिं ॥57॥

जीव का घात खुद का घात (होता है), जीव के लिए दया खुद के लिए दया होती है; उस कारण से आत्म-स्वरूप को चाहने वालों के द्वारा सब जीवों की हिंसा छोड़ी हुई (है)।

समणसुत्तं चयनिका

अप्रकाशित प्राकृत शतकत्रय–एक परिचय

□ डॉ॰ प्रेम सुमन जैन

श्री ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, उज्जैन के ग्रन्थ भण्डार का जुलाई, 1984 मे अवलोकन करते समय प्राकृत भाषा मे रचित शतकत्रय की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। यह पाण्डुलिपि वि॰ स॰ 1981 मे आश्विन सुदी चतुर्थी बुधवार को लिखी गयी है। इसमे रचनाकार और रचनाकाल का उल्लेख नही है। यह एक सग्रह ग्रन्थ प्रतीत होता है इसलिए इसमे लेखक या सग्रहकर्ता का नामोल्लेख नहीं है। प्राकृत साहित्य के इतिहास मे भी ऐसे किसी लेखक का नाम नही मिलता, जिसने कि शतकत्रय की रचना की हो।

इस पाण्डुलिपि मे कुल 32 पन्ने अर्थात् 64 पृष्ठ हैं। बडे अक्षरो मे दूर-दूर लिखावट है। एक पृष्ठ मे प्राकृत की कुल 7 पक्तियाँ हैं। लगभग 9 शब्द एक पक्ति मे हैं। पन्ने लगभग 11 इच लम्बे एव 8 इच चौडे हैं।

इस प्राकृत शतकत्रय मे प्रथम इन्द्रियशतक, द्वितिय वैराग्यशतक एव तृतीय आदिनाथशतक का वर्णन है। शतकत्रय से भर्तृहरि के शतकत्रय का स्मरण होता है, जिसमे नीति, वैराग्य और शृङ्गार-शतक सम्मिलित हैं। उनमे इस प्राकृत शतक का कोई सम्बन्ध नहीं है। केवल नाम-साम्य है। जैन आचार्यो मे खरतरगच्छ मे जिनभद्रसूरि के शिष्य देहडसुपुत्र श्री धनदराज सघपाटी ने स॰ 1490 मे मडपदुर्ग मे एक शतकत्रय की रचना की थी।[1] किन्तु यह शतकत्रय सस्कृत भाषा में है। इसमे भर्तृहरि के अनुसरण पर नीति, वैराग्य एव शृङ्गारशतक की ही रचना की गयी है।[2]

प्राकृत शतकत्रय की एक साथ कोई दूसरी पाण्डुलिपि की सूचना अभी तक प्राप्त नही है। अत इसी उज्जैन भण्डार की पाण्डुलिपि के आधार पर इन तीनों शतको का सक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

इन्द्रिय शतक

"इन्द्रिय शतक" नामक पाण्डुलिपियाँ कई जैन भण्डारो मे उपलब्ध हैं।[3]

निम्नाकित ग्रन्थ भण्डारो की प्रतियाँ प्राकृत भाषा की हो सकती हैं—

(1) भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट

1 वेलेणकर, एच डी, जिनरत्नकोश, पृ 370

2 (क) काव्यमाला के गुच्छ 13 न 69 मे निर्णयसार प्रेस बम्बई से प्रकाशित।
(ख) नाहटा, अगरचन्द, 'जैन शतक साहित्य' नामक लेख गुरू गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, 1967, पृ 524–538

3 जिनरत्न कोश पृ 40

पूना, कलेक्शन नं० पाँचवा (1884-87) ग्रन्थ नं० 1170।

(2) लीवड़ी जैन ग्रन्थ भंडार, पोथी नं 578

(3) जैनानन्द ग्रन्थ भण्डार, गोपीपुरा, सूरत, पोथी नं० 1648

भीमसी मानेक, बम्बई द्वारा 'प्रकरणरत्नाकर' के भाग 4 मे एक 'इन्द्रिय पराजय शतक' प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक देखने को नहीं मिली। हो सकता है इसका और प्राकृत इन्द्रियशतक का कोई सम्बन्ध हो। रचनाकार के नाम का उल्लेख कही नही है। इन्द्रियपराजय शतक पर सं. 1664 मे गुणविनय ने एक टीका भी लिखी है।[1]

प्राकृत इन्द्रियशतक का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

आदि अंश

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥
सो च व सूरो सो चेव
पंडियो तं पसंसिमो निच्चं।
इन्दिय चोरेहि सया न लुहियं
जस्स चरणधणं ॥ 1 ॥

इन्दिय चवला तुरगो दुग्गइ
मग्गाणु धाविणो णिच्चं।
भाविय भवस्स रूवो रूंभइ
जिणवयणरिस्सीहिं ॥ 2 ॥

इन्दिय घुत्ताणमहो तिलंतु
समित्तं पि दिसु मा पसरो।
जई दिण्णो तो नीउं जत्थ
खणो वरिस कोटि समो ॥ 3 ॥

अन्तिम अंश

दुक्करामे एहि कयं जेहि
समत्थेहि जुवणच्छहि।
भग्गाइंन्दियसण्णं धिइपायारं
वि लग्गेहिं ॥ 99 ॥

ते धण्णा ताणं णमो दासोऽ
हं ताण संजमधराणं।
अह अहच्छि पिरीओ जाण ण
हियए खुडकंति ॥ 100 ॥

किं वहुणा जइ वच्छसि जीव
तुमं सासयं सुहं अरूअं।
ता पिअसु विसइ विमुहो संवेग
रसायणं णिच्चं ॥ 101 ॥

॥ इति श्रीइन्दियशतक समाप्तं ॥

इस इन्दियशतक में कुल 101 प्राकृत गाथाएँ हैं। इन गाथाओं के ऊपर पुरानी हिन्दी में टिप्पण भी लिखे हुए हैं। इनमें से कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य है—

गाथा – 1

सोइ सूरमा पुरुष सोइ पुरुष पंडित
ते हवइ प्रसंस्यज्यो नित्यं।
जेह इन्दिय रुपिया चोर सदा
ते हने नथी लूटाव्या चरितरूप धनु ॥

गाथा – 2

इन्दीरूप चवल तुरंगम दुर्गति मार्ग
नइ धावत उथइ सदा।
स्वाभाविउ संसार स्वरूप रूंधइ
श्रीवीतरागना वचन मारगवोरीइ ॥

गाथा – 3

इन्दिय धूरत नइ अहो उत्तम
तिलवाकू कसमात्र देनिमा।
पसरवा जउ दीयउ तउ नीपउ जहाँ एक
क्षण वरसनी कोटि सरीखो दुखमय ॥

1. वही, पृ. 40, कान्तिविजयजी का निजी संग्रह, बड़ौदा

इस इन्द्रियविजयशतक मे कामभोगो के दुष्परिणामो का वर्णन किया गया है। प्रसगवश नारी को दु:खो की खान कहा गया है। जीवो को इतना मूढ और अज्ञानी कहा गया है कि वे विषय भोगो के जाल मे जानते हुए भी फस जाते हैं क्योकि उन्हे अपने स्वरूप का पता नही है। जो स्वाभिमानी व्यक्ति मृत्यु के आने पर भी कभी दीन वचन नही बोलते हैं, वे भी नारी के प्रेमजाल मे फसकर उसकी चाटुकारिता करते हैं। यथा—

मरणे वि दीणवयण माणधरा
जे णरा ण जपति।
ते वि हु कुणति लल्लि बालाण
नेह-गहिल्ला ॥ 68 ॥

इतिहास का एक उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि यादववश के पुत्र, महान् आत्मा जिनेन्द्र नेमिनाथ के भाई महाव्रतधारी, चरमशरीरी रथनेमि भी राजमति से विषयो की आकाक्षा करने लगता है। जब उस जैसा मेरुपर्वत सदृश निश्चल यति भी कामरूपी पवन से चञ्चल हो उठा तब पके हुए पत्ता की तरह सामान्य अन्य जीवो की गति क्या कही जाय—

जउनन्दणो महप्पा जिणभाय
वयधरो चरमदेहो।
रहणेमि रायमई, रायमई
कासिही विसया ॥ 70 ॥
मयणपवणेण जइ तारिसो वि
सुरसेलनिच्चला चालिया।
ता पक्कपत्तसत्ता णइय
सत्ताण का वत्ता ॥ 71 ॥

इसिलिए विषय कामभोगों से मन को विरक्त कर जिनभाव मे अभ्यास करना चाहिये। ऐसे सयमधारी योगियो का दास बनना भी श्रेयस्कर है।

2 वैराग्य शतक

नीति और आध्यात्म विषयक प्राकृत रचनाओ मे वैराग्यशतक नामक रचना बहुत प्रचलित रही है। यद्यपि इसका कर्ता अभी तक अज्ञात है। इसका दूसरा नाम 'भव-वैराग्यशतक' भी प्राप्त होता है। यह रचना सस्कृतवृत्ति एव गुजराती अनुवाद सहित 3–4 बार प्रकाशित हो चुकी है।[1] किन्तु फिर भी इसके प्रामाणिक सस्करण के प्रकाशित करने की आवश्यकता है। उसके लिये विभिन्न पाण्डुलिपियो का मिलान करना होगा। उज्जैन के सरस्वती भवन से प्राप्त पाण्डुलिपि के नमूने के रूप मे इस रचना के आदि एव अन्त की कुछ गाथाएँ यहाँ प्रस्तुत हैं—

आदि अ श

ससारम्भि असारे नत्थि सुह
वाहि वेयणा पवरे।
जाणतो इह जीवो ण कुणई
जिण देसिय धम्म ॥ 1 ॥
अज्ज कल्ल पुरपुण्ण जीवा
चितति अत्थि सपत्ते।
अजलि-गहियम्मि तोय
गलतिमाउ ण पिच्छति ॥ 2 ॥
ज कल्लेण कयव्व त अज्ज
चिय करेह तुरमाण।
बहु-विग्घोहमुहुत्तो मा
अवरण्ह पडिक्खेहि ॥3 ॥

1 (क) कचरमाई गोपालदास, अहमदाबाद, सन् 1895
(ख) हीरालाल हसराज, जामनगर, 1914
(ग) देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, 1941
(घ) स्याद्वाद सस्कृत पाठशाला, खमात, 1948

अन्तिम अंश

चउगइणंत दुहाणल पलित्त
भवकाणणे महाभीमे।
सेवसु रे जीव ! तुमं जिणवयणं
अमियकुंड सम्मं ।। 104।।

विसमे भवमरूदे से अणंत-
दुह गिम्हताव संतते।
जिणधम्मं कप्परूक्खं सरिस
तुमंजीव सिवसुहायं ।। 105।।

किं वहुणा तहघम्मो जइअव्व
जह भवोदहिं घोरं ।
लहु तरिउमणंत सुहं लसइ
जियउ सासयं ठाणं ।।106।।

।। इति वैराग्यशतकं सम्पूर्णम् ।। द्वितीयम् ।।

इस वैराग्य शतक मे संसार से वैराग्य उत्पन्न करने के लिये शरीर, यौवन और धन की अस्थिरता का वर्णन किया गया है। संसार की क्षणभंगुरता के दृश्य उपस्थित किये गये हैं। ससार के सभी सुखो को कमल पत्ते पर पड़ी हुई जल की वून्द की तरह चञ्चल कहा गया है। इस शतक मे काव्यात्मक विम्वो का अधिक प्रयोग किया गया है। व्यक्ति के अकेलेपन का चित्रण करते हुए कहा गया है कि माता-पिता, भाई आदि परिवार के लोग मृत्यु से प्राणी को उसी प्रकार नहीं वचा सकते जिस प्रकार सिंह के द्वारा पकड़ लिये जाने पर मृग को कोई नही वचा सकता। यथा–

जहेह सीहो व मियं गहाय मच्चू
नरं णेइ हु अन्तकाले।
ण तस्स माया व पिया न भाया
कालम्मि तंमिसहरा भवंति ।।

इसलिये चिन्तामणि के समान धर्मरत्न को प्राप्त कर ससार वन्धन से छूटने का प्रयत्न करना चाहिये।[1]

आदिनाथ शतक

'आदिनाथदेशना शतक' नामक प्राकृत रचना का उल्लेख मिलता है।[2] किन्तु आदिनाथ-शतक नामक किसी अन्य रचना अथवा पाण्डुलिपि की जानकारी नही है। उज्जैन के ग्रन्थ भण्डार से प्राप्त प्राकृत का यह आदिनाथशतक नया हो सकता है। इस आदिनाथशतक की प्राकृत गाथाओं के ऊपर हिन्दी टिप्पण भी नही दिये गये हैं। इसका नाम आदिनाथ शतक क्यों दिया गया है, यह पाण्डुलिपि को पढने से ज्ञात नही होता। क्योकि इसमे आदिनाथ के जीवन की कोई घटना नही है। जैन धर्म का प्रवर्तक होने के नाते आदिनाथ का नाम शायद इसलिये दिया गया है कि इस शतक मे जो कहा गया है वह भी जैन-धर्म का मूल उपदेश ही है।

इस शतक मे मनुष्य जन्म की दुर्लभता, कर्मो की प्रवलता एवं संसार की विचित्रता का वर्णन है। अशरण भावना को जानकर शीघ्र धर्म करने की वात इसमें कही गयी है—

असरण मरति इंदा-
वलदेव-वासुदेव-चक्कहरा।
ता एअं नाऊणं करेहि
धम्मु तुरिय ।। 21 ।।

मनुष्य जन्म प्राप्त कर लेने पर भी धर्मवोधि का लाभ सभी को नही हो पाता है। कवि कहता है कि 72 कलाओं में निपुण व्यक्ति भी स्वर्ण और रत्न को तो कसौटी मे कसकर पहिचान लेगा,

1. शास्त्री, नेमीचन्द : प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ. 387
2. जैन ग्रन्थावलि, पृ. 208

किन्तु धर्म की कसौटी में कसने से यह व्यक्ति भी छूट जाता है। यथा—

धावत्तरिता सुगंधा बसु... ...।
पुरवति पम्मरगाला गति ति मम्मुति... ॥77॥

कवि की मान्यता है कि धर्म से ही व्यक्ति नव निधियों का स्वामी, 14 रत्नों का अधिपति एवं भारत के छह खण्डों का स्वामी चक्रवर्ती राजा होता है। सामान्य उपलब्धियों का कहना ही क्या? इस ग्रन्थ की कुछ गाथाओं के परिचय के लिए आदि एवं अन्त की गाथाएँ यहाँ दी जा रही हैं।

अथ श्री आदिनाथजी बारहखडी

आदि अंश

संसारे सन्दि दुह अम्ब
कराल... ।
तह कि विरवह जीवा ए
कुणति जिणवरधम्मं ॥1॥

माइ दयाए सहित जिण...
समवसरणेण जुत्ते गम्मे ।
...
... ॥ ॥

जो धम्म इच्छ... जो
... ।
...
... ॥3॥

अंतिम अंश

मारोगन्ध-भरा-भमरा-
मत्ता दीहमाउगीहरा ।
... हो ...
... ॥83॥

...
... ।
...
... ॥84॥

...
... ।
...
... ॥85॥

॥ इति स्तवनमिदं ॥

इति श्री आदिनाथ की स्तवन सम्पूर्ण। शुभ मिति फागुन सुदी चतुर्थी बुधवार लिख्यो संवत् 1931।

इस प्रकार प्रस्तुत कवि ठाकुर की यह बारहखडी भक्ति, धर्म, एवं वैराग्य विषय की एक महत्त्वपूर्ण रचना है। विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार से इसका प्रामाणिक संस्करण तैयार करने की आवश्यकता है। हिन्दी अनुवाद के साथ यदि यह प्रकाशित किया जाय तो स्वाध्याय के लिए यह उपयोगी ग्रन्थ होगा। अन्य कृति के सम्पादन की भाँति विद्वान् आगे इस ठाकुर बारहखडी से भी परिचित हो सकेंगे।[1]

प्राध्यापक,
जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग,
सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

---

1 इस बारहखडी की पाण्डुलिपि की प्राप्ति हेतु पं. दयाचन्द्रजी शास्त्री, ब्यावर, ... सरस्वती भवन, उज्जैन के प्रति आभार।

षट्खंडागम में संख्या सिद्धांत एवं अनंत

□ डा. रमेश चन्द्र जैन

मानव सभ्यता का विकास होते ही मनुष्य को वस्तुओं की गणना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अपने दो हाथों की उंगलियों की सहायता से गणना प्रारम्भ कर एक से दस तक की संख्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। दस अथवा दस से बड़ी संख्या के लिए सरल संकेतों की आवश्यकता ने दाशमिक क्रम का प्रचलन किया। यह पद्धति भारतवर्ष में ईसा से 300 वर्ष पूर्व मे प्रचलित थी, जबकि मेक्सिको देश के माया लोग 20 को आधार मानकर स्थानमान का उपयोग करते थे। इसका समय ईसा की तीसरी शताब्दी का माना जाता है।

जैन साहित्य के अनुसार प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ ने अपनी पुत्री सुन्दरी को अंक विद्या का ज्ञान दिया था, किन्तु इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध नही है। ईसा की द्वितीय शताब्दी के जैन आचार्य पुष्पदन्त तथा भूतबलि ने षट्खंडागम नामक ग्रंथ की रचना की थी। ईसा की नौवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे जैन आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम की धवला नामक टीका लिखी थी। आचार्य वीरसेन तो गणितज्ञ थे ही, किन्तु षट्खंडागम की टीका धवला में जो गणित शास्त्रीय सामग्री उपलब्ध है वह आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि के अलावा आचार्य समंतभद्र, कुंदकुंद आदि की भी मानी जा सकती है।

धवला में उपलब्ध गणितीय सामग्री

षट्खंडागम की धवला टीका भाग 3 में जीव द्रव्य के प्रमाण का ज्ञान कराया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न गुणस्थानों एवं मार्गणास्थानों में जीवों का प्रमाण द्रव्य, काल एवं क्षेत्र की अपेक्षाओं से बताया गया है। द्रव्यप्रमाणानुयोग के अन्तर्गत एक से लगाकर करोड़ो तक की संख्याओं की गणना, तत्पश्चात् असंख्यात्, अनंत तथा अनंतानन्त का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही गणित की चार मौलिक क्रियाएं जोड़, बाकी, गुणा तथा भाग के अतिरिक्त वर्ग, वर्गमूल, वर्गित संवर्गित, घन तथा घनमूल, लघुगणक, वर्गशलाका, सम, विषम एवं अभाज्य संख्याओं का वर्णन तथा उपयोग किया गया है।

काल सम्बन्धी गणना में सूक्ष्मतम इकाई "समय" से "कल्पकाल" तक का वर्णन मिलता है। क्षेत्र सम्बन्धी विशेष गणना में लम्बाई तथा क्षेत्रफल की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु से लेकर योजन एवं प्रमाणांगुल का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उपमा मान जैसे पल्य, सागर, सूच्यगुल, जगश्रेणी और लोक का वर्णन मिलता है, जोकि द्रव्य प्रमाण मे संख्या से, काल प्रमाण में समय से तथा क्षेत्र प्रमाण में आकाश प्रदेशों से परिभाषित किये गये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ईसा की द्वितीय शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के जैन आचार्य गणित की उच्च कोटि की प्रक्रियाओं से परिचित ही नहीं थे वरन् उनका स्वतन्त्र रूप से उपयोग भी करते थे। इन सब प्रक्रियाओं का उल्लेख सूत्रों के माध्यम से किया गया है।

सख्या सिद्धान्त (Number Theory)

यह सर्व विदित है कि वास्तविक सख्या (Real Numbers) की उत्पत्ति क्रमश निम्न प्रकार हुई —

(1) धन पूर्णांक सख्या (Natural Numbers)

इसके अन्तगत धनात्मक सख्याए एक से लेकर बडी से बडी सख्या आती है। धवला भाग 3 मे धन पूर्णांक सख्याओ के उदाहरण बहुत उपलब्ध है। उदाहरण के लिए 3 का प्रथम वर्गित सवर्गित का मान 27 होता है और द्वितीय वर्गित सवर्गित राशि 39 अको की सख्या होती है।

(2) पूर्णांक सख्याए (Integers)

इस समुच्चय के अन्तर्गत धन पूर्णांक सख्याए, शून्य तथा ऋणात्मक पूर्णांक सख्याएँ आती है। धवला भाग 3 मे स्वतन्त्र रूप से ऋणात्मक पूर्णांक सख्याओ का वर्णन नही है किन्तु किसी दी हुई राशि मे से किसी राशि को कम करना अथवा घटाने की क्रिया को हानि से प्रदर्शित करना ही ऋणात्मक पूर्णांक सख्याओ का उपयोग करना है।

(3) परिमेय सख्याए (Rational Numbers)

इस सम्मुच्चय के अन्तर्गत ऐसी सख्याएँ आती है जो कि कोई दो पूर्णांक सख्याओ के अनुपात द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इस प्रकार की सख्याओ का प्रयोग धवलाकार ने स्वतन्त्रता से किया है।

(4) अपरिमेय सख्याएँ (Irrational Numbers)

इस सम्मुच्चय के अन्तगत धनात्मक परिमेय सख्याओ के वर्गमूल, घनमूल से प्राप्त सख्याएँ आती है। जैन ग्रन्थो मे अपरिमेय सख्याओ का उपयोग बहुत हुआ है। तिलोयपण्णत्ति मे π का मान $\sqrt{10}$ लिया गया है जो कि एक अपरिमेय राशि है। धवला भाग 3 मे विषकम्भ सूची के प्रमाण का प्ररूपण करने मे सूच्यगुल का मान $2 \times 2^{\frac{1}{3}}$ का उपयोग हुआ है जो कि एक अपरिमेय सख्या है। धवला भाग 3 के श्लोक 66 मे जगश्रेणी के बारहवें, दसवें, आठवें वर्गमूल का वर्णन है जिसमे जगश्रेणी का मान 65536 लिया है और इसका बारहवां, दसवां एव आठवां वर्गमूल अपरिमेय सख्याएँ हैं। यद्यपि धवला मे इन वर्गमूलो के मान का उल्लेख नहीं है किन्तु इससे यह अवश्य ही सिद्ध होता है कि जैन आचार्यों को अपरिमेय सख्याओ का ज्ञान था।

(5) वास्तविक सख्याएँ (Real Numbers)

परिमेय सख्याओ के सम्मुच्चय एव अपरिमेय सख्याओ के सम्मुच्चय को मिला देने से जो नया समुच्चय प्राप्त होता है उसे गणितज्ञ वास्तविक सख्याओ का समुच्चय कहते हैं। धवला भाग 3 के श्लोक न 24 और 25 से बीजगणित का निम्न सूत्र आता है—

$$\frac{क^2}{म \pm \frac{क}{म}} = क \mp \frac{क}{म \pm 1}$$

यह सूत्र क और म के किसी भी वास्तविक मान के लिए सत्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन आचार्यों को वास्तविक सख्याओ का पूर्ण ज्ञान था और उनका स्वतन्त्रतापूर्वक उपयोग करते थे।

(6) ओज तथा युग्म राशि (Odd and Even Numbers)

धवला भाग 3 पृष्ठ 249 पर ओज राशि के अन्तगत तेजोज और कलीओज राशियो तथा युग्म राशि के अन्तगत कृतयुग्म और बादरयुग्म राशियो का वर्णन हैं। यहाँ ओज राशि से तात्पर्य विषम सख्या से है तथा युग्म राशि से तात्पय समसख्या से है। तेजोज कलिओज, कृतयुग्म तथा बादरयुग्म

राशिओं से तात्पर्य उन राशियो से है जो किसी भी घन पूर्णांक राशि मे चार का भाग देने पर शेष रहती है। यह शेष यदि 0, 1, 2 और 3 हो तो उन्हे क्रमशः कृतयुग्म, कलिओज, बादरयुग्म और तेजोज राशि कहते है। इन राशियों को हम अक 4 की अवशेष कक्षा (Residual Class) कह सकते है।

(7) लघुगणक (Logarithrn) :

धवला भाग 3 मे 78 पर सासादन सम्यग्दृष्टि जीव राशि का प्रमाण पल्योपम राशि के अर्द्धच्छेद करने से आता है। इसी प्रकार त्रिकच्छेद, चतुरकच्छेद, आदि का भी वर्णन है। यदि हम लघुगणक का आधार 2 मान ले तो—

संख्या $2^{\text{म}}$ के अर्द्धच्छेदों की संख्या म होगी। अतएव

$$\text{अर्द्धच्छेद } (2^{\text{म}}) = \text{लरि}) (2^{\text{म}}) = \text{म}$$

$$\text{इसी प्रकार त्रिकूच्छेद } (3^{\text{म}}) - \text{लरि } (3^{\text{म}}) = \text{म}$$

(धवला भाग 3 पृष्ठ 56)

$$\text{चतुर्थच्छेद } (4^{\text{म}}) = \text{लरि}(4^{\text{म}}) = \text{म}$$

$$\text{इसी प्रकार दशमच्छेद } (10^{\text{म}}) = \text{लरि } (10^{\text{म}}) = \text{म}$$

वर्तमान में दशमच्छेद अर्थात् लघुगणक आधार 10 का गणना करने मे बहुत उपयोग होता है। यदि कोई संख्या 10 के किसी पूर्णांक घात रूप मे है तो उसका लघुगणक पूर्णांक होगा किन्तु यदि संख्या 10 के किसी पूर्णांक घात रूप में नही है तो वह 10 के किसी वास्तविक धनात्मक संख्या घात रूप मे होगी उस और संख्या का लघु-गणक वह वास्तविक धनात्मक संख्या होगी।

वर्गशलाका धवला भाग 3 पृष्ठ 21 एवं 335 पर वर्गशलाका का वर्णन आया है। उसके अनुसार संख्या $2^{2\text{म}}$ की वर्गशालाका म होगी।

$$\text{वर्गशालाका } (2^{2\text{म}}) = \text{लरि लरि } (2^{2\text{म}}) = \text{म}$$

इस प्रकार

$$\text{वर्गशालाका } (10^{10\text{म}}) = \text{लरि लरि } (10^{10\text{म}}) = \text{म}$$

वर्गशालाका किसी भी समान आधार से दो बार लघुगणक लेने की प्रक्रिया है। यहाँ म का मान कोई धनात्मक वास्तविक संख्या हो सकता है।

वर्तमानमें लघुगणक के आविष्कारक सत्रहवी शताब्दी के विद्वान "नेपियर एवं बर्जी" माने जाते है किन्तु इसके आविष्कारकों में प्रथम नाम जैन आचार्य वीरसेन अथवा आचार्य पुष्पदन्त एवं भूत-बलि का होना चाहिये।

(8) अनंत (Infinity) :

अनंत शब्द का उल्लेख सभी प्राचीन ग्रन्थो मे पाया जाता है। इसकी सही परिभाषा देने का श्रेय भारतवर्ष के जैन दार्शनिकों को जाता है जिन्होंने सम्पूर्ण लोक के समस्त जीवो, काल प्रदेशों और आकाश प्रदेशो आदि के प्रमाण का निरूपण करने का प्रयत्न किया था। धवलाकार के अनुसार अनत ग्यारह प्रकार का होता है।

(1) नामानंत :

किसी भी वस्तु के बहुत्व को प्रगट करने के लिए उसे अनत कहना ही नामानंत है जबकि यथार्थ मे वह वस्तु अनंत नही है।

(2) स्थापनानंत :

यह भी यथार्थ में अनंत नही है किन्तु किसी भी वस्तु मे उसका आरोपण कर लिया जाता है।

(3) द्रव्यानत

वर्तमान मे उपयोग युक्त न होते हुए अनत विषयक शास्त्र के ज्ञाता को द्रव्यानत कहते हैं।ॐ

(4) गणनानत

धवला भाग 3 पृष्ठ 17 मे वर्णित गणनानत गणितशास्त्र मे प्रयुक्त वास्तविक अनत के अर्थ मे है। इसके अतर्गत सख्या के तीन भेद किये जा सकते हैं।

(1) सख्यात राशि जो कि पचेन्द्रियो का विषय है।

(2) असख्यात राशि जो कि अवधिज्ञानियो विषय है।

(4) अनन्त राशि जो कि केवलज्ञानियो का विषय है।

इन तीनों प्रकार की राशियो के कई भेद हैं जिससे सिद्ध होता है कि जैन दार्शनिको के अनुसार अनन्त के कई भेद होते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी मे जार्ज कैंटर ने अनेक प्रकार के अनन्तो को स्थापित किया, किन्तु इसका वास्तविक श्रेय जैन आचार्यों को दिया जाना चाहिये जिन्होंने दूसरी शताब्दी मे अनेक प्रकार के अनन्तो को स्थापित किया था।

(5) अप्रदेशिकानन्त

यहाँ ऐसे अनन्त से तात्पय है जो कि अप्रदेशिक हो अर्थात् आकाश का एक प्रदेश से अधिक घेरने वाला न हो। परमाणु को अप्रदेशिक अनन्त कहा गया है।

(6) एकानन्त

यह एक दिशात्मक अनन्त है और सीधी एक रेखारूप से देखने मे प्रतीत होता है। यह दिशा धनात्मक या ऋणात्मक अनन्त की हो सकती है।

(7) विस्तारानन्त

यह पृष्ठ देशीय अनन्त है जिसके अनुसार क्षेत्रफल अनन्त है।

(8) उभयानन्त

यह दो दिशाओ मे अनत है। अर्थात् यह सरल रेखा जो दोनो दिशाओ मे अनन्त तक जाती है अर्थात् धनात्मक अनन्त तथा ऋणात्मक अनन्त।

(9) सर्वानन्त

यह आकाशात्मक अनन्त है जिसके अनुसार यह तीनो दिशाओ मे अनन्त है।

(10) भावानन्त

यह ज्ञान की अपेक्षा से अनन्त है। यदि किसी भी व्यक्ति को अनन्त विषयक शास्त्र का ज्ञान है और वर्तमान मे वह उसके चिन्तन, मनन मे लगा

ॐ द्रव्यानन्त के मुख्य दो भेद हैं—आगम नोआगम। लेखक का कथन आगम द्रव्यानन्त की व्याख्या है। नोआगम द्रव्यानन्त मे ज्ञाता का शरीर, वह व्यक्ति जो अनन्त विषयक शास्त्र को अभी नही जानता आगे जानेगा, कभी विघटित न होने वाले पदार्थ और रचनाये जैसे परमाणु सुमेरु आदि शामिल है। —सम्पादक

है, (उपयोग युक्त है) तो ऐसे व्यक्ति को भावानन्त नामक सज्ञा से विभूपित किया जाता है।*

(11) शाश्वतानन्त :

यह एक अविनाशी अनन्त है।

इस प्रकार अनन्त का यह वर्गीकरण खूब व्यापक है और इसमें उन सब अर्थों का समावेश है जिन अर्थों में अनन्त का प्रयोग जैन साहित्य में हुआ है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईसा की आठवी शताब्दी तक जैन आचार्यो द्वारा धवला में अलौकिक गणित का आधार लिया गया है, उस पर अभी कोई प्राचीन ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है। लघुगणक के आविष्कारकों मे प्रथम नाम जैन आचार्य वीरसेन का तथा विभिन्न अनन्तों को स्थापित करने वाले आविष्कारकों में भी प्रथम नाम आचार्य वीरसेन का आना चाहिये।

संदर्भ ग्रन्थ

1. षट्खंडागम: धवलाटीका समन्वित, सम्पादक हीरालाल जैन, जीवस्थान-द्रव्यप्रमाणानुगम भाग 3,1941 जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय अमरावती।

विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन [म, प्र.]



जाणिज्जइ चिन्तिज्जइ, जम्मजरामरणसंभव दुक्खं।
न य विसएसु विरज्जई, अहो सुवद्धो कवडगंठी॥

जन्म, जरा, मरण से उत्पन्न दुःख (यद्यपि) जाना जाता है विचारा जाता है, फिर भी विषयों से निर्लिप्त नही हुआ जाता है। आश्चर्य! कपट की गाँठ दृढ़ बंधी हुई है।

---

* लेखक ने यहाँ भावानन्त के एक भेद आगम भावानन्त को व्याख्यायित किया है। दूसरे भेद नो—आगम भावानन्त में त्रिकालजात अनन्त पर्यायों से परिणत जीवादि द्रव्य वीरसेनाचार्य द्वारा गिनाये गये हैं। —सम्पादक

भक्तामर स्तोत्र का एक अज्ञात हिन्दी पद्यानुवाद

□ डा कस्तूरचन्द कासलीवाल

भक्तामर स्तोत्र जैन समाज मे बहुचर्चित स्तोत्र है। नमस्कार मत्र के पश्चात् स्तोत्रो मे इसी स्तोत्र की सर्वाधिक लोकप्रियता है। प्रतिदिन लाखो स्त्री-पुरुष इसका पाठ करते हैं। भक्तामर स्तोत्र विघ्नोपनाशक है इसमें दो मत नही है। जो भी व्यक्ति इस स्तोत्र का मनोयोग पूर्वक पाठ करते हैं उन्हें अतीव शांति लाभ होता है।

भक्तामर स्तोत्र यद्यपि सस्कृत भाषा मे निबद्ध स्तोत्र है लेकिन हिन्दी विद्वानो ने जितना इस स्तोत्र का हिन्दी रूपातर किया उतना किसी अन्य स्तोत्र का नही हुआ। क्या पद्य एव क्या गद्य दोनो मे ही इसके पचासो रूप मिलते हैं। इन्दौर से प्रकाशित होने वाले तीर्थकर सन् 1982 मे भक्तामर स्तोत्र विशेषाक निकला था उसमे प कमलकुमार जी शास्त्री ने अपन लेख मे 70 पद्यानुवादो का उदाहरण प्रस्तुत किया था। मैंने स्वय ने भी हिन्दी राजस्थानी की कितनी गद्य पद्य टीकाओ का उल्लेख किया था लेकिन राजस्थान के जैन ग्रथागार तो पाण्डुलिपियो के अथाह सागर की भाति हैं जिसमे गोता लगाना सहज कार्य नही है। भक्तामर स्तोत्र के भी कितने ही हिन्दी गद्य पद्य रूपातर अभी तक अज्ञात अवस्था मे ही सग्रहीत हैं।

अभी लगभग 4 महीने पूर्व जब मैं खण्डेलवाल दिगम्बर जैन समाज के इतिहास लेखन की सामग्री के लिए श्री ताराचन्दजी जौहरी अजमेरा जयपुर के पास गया हुआ था तो उन्होंने अपने पास रखा हुआ एक गुटका बतलाया जिसमे भक्तामर स्तोत्र का पाठ भक्ति मत्र सहित दिया हुआ है। गुटका प्राचीन है। वह थोडा जीर्ण तो अवश्य हो गया है। प्रारम्भ के 4 पत्र दीमक ने खा लिए हैं तथा सील लगने से वे पत्र खराब भी हो गये हैं लेकिन अवशिष्ट पृष्ठ पूर्णत: सुरक्षित तथा पुट्ठे की जिल्द बधने से उसकी आयु मे और वृद्धि हो गयी है। उसकी लिखावट बहुत सुन्दर एव सुपाठ्य है।

सर्वप्रथम भक्तामर स्तोत्र का मूल पाठ दिया हुआ है। उसके पश्चात् ऋषि यत्र एव मत्र दिया हुआ है। फिर हिन्दी में उसका गुण बतलाया गया है फिर वह मत्र किसको अभीष्ट रहा उसका नाम दिया हुआ है। उसके पश्चात् हिन्दी गद्य मे उसकी विस्तृत टीका लिखी गयी है। विस्तृत टीका के आगे हेमराज कवि द्वारा निबद्ध चौपाई छन्द मे अर्थ लिखा हुआ है। सबके अन्त मे छप्पय छन्द मे एक नवीन पद्य नुवाद दिया गया है जिसकी जानकारी हमे प्रथम बार मिल रही है। एक पद्य का पूरा विश्लेषण निम्न प्रकार है —

मूल पद्य स्त्रीणा शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा,
नान्यास्सुत त्वदुपम जननी प्रसूता।
सर्वादिशोदधति भानि सहस्ररश्मि,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदशु जाल ॥22॥

ऋद्धि ऊ ह्री अर्ह णमो अग्ग सगामीण।

मत्र ऊ नमो श्री वीरेहि ज भय 2 मोहय 2
स्तभय 2 अवधारण कुरु 2 स्वाहा।

गुण : ए बाईसमां काव्य मंत्र सेती हलद की गांठि लेकरि वार 21 अथवा 108 पढ़ि करि मंत्र सेती मंत्री जे। पीछे रोगी को चवाई जे। डाकिनी भूत व्यंतर, पिशाच, चुडेल, उपरि माया की छाया, जिहना शरीर विषै होइ तिह पुरुष वा स्त्री ने चवाई जे। सर्व दूषण टले। टांक 2 दोइ नित्य झाड़ों दीजे दिन 7 अथवा 21 तांई दीजे सवे पीड़ा दूरि होइ।

जाप : 300000 हनूमानजी ने ऋद्धि फुरी ॥ 22 ॥

टीका :—

स्त्रीणां शतानी। स्त्री के जुहै समूह ते शतशः पुत्रान् जनयति अनेक पुत्रानि को जणै है। अन्या जननी। उनि स्त्रीनि विषै और को माता त्वदुपमसुतं। तुम्हारि बराबरी पुत्र को। न प्रसूता न जणत भई। स्त्री तो पुत्र अनेक जणे हैं। पर जे भी तुम्हारी जनन वाली माता है ऐसी और कोई नाही। दृष्टात कहे है। सर्वादिशः भानि दधति। सब ही दिशा नक्षत्र तारागण को धरे हैं। प्राची एव दिक। सहस्त्ररश्मि जनयति। प्राची जु है पूर्व दिशा। सोई सहस्त्ररश्मि। सूर्य को उपजावै है। कैसा हैं सूर्य स्फुरदंशु जालं। स्फुरदशु जालं देदीप्यमान जु हैं। अंशु किरण तिनका जाल समूह जा विषै जैसे और दिशा तारागण को उपजावै है। सूर्य को उदय करिवे को पूर्व ही दिशा है और दिशा असमर्थ है।

छंद नाराच :—

सराग देव देखि मैं भला विशेष मानियां।
स्वरूप जाहि देखि वीतराग तु पिछानिया।
कछू न तोहि देखतैं जहां तुहि विशेखिये।
मनो चित्त चोर और भूलि हू ना देखिये। 22।

छप्पय छन्द :

जानै पुत्र सत सहसनारी विरथा मद लावै।
तो समान जो जनै पुत्र सो मात कहावै॥
जैसे सब दिसि देव नपित तारागन धारहि।
पै दिनकर को जाल कबहूं उद्योत न करहि।
प्राची दिस सूरजि जनै त्या तुव मात जनै तुजै॥
नहि तो समान ससार मैं भक्ति देव स्वामी मुजे॥ 22॥

यह अन्तिम छप्पय छन्द पं. विजैनाथ द्वारा रचित है। पं. विजैनाथ कौन थे इसके विषय मे तो उन्होने कुछ नही लिखा लेकिन कवि के साथ रहने वाले थे तथा तत्कालीन दीवान बालचन्द छाबड़ा के यहां सभवतः पंडित थे अथवा उनके यहां नौकरी करते थे। कवि ने बालचन्द दीवान का निम्न प्रकार उल्लेख किया है —

बालचन्द दीवान जू कीनो यह उपदेश।
भक्तामर सुभ भाव सो भाषा करो सुवेस॥52॥
भवि जीव ताको पढ़ै, धरे ध्यान मन लाइ।
विजैनाथ ने भाव सो भाषा करी बनाइ॥53॥

दीवान बालचन्द छाबड़ा अपने समय के प्रसिद्ध दीवान थे। महापंडित टोडरमल एवं महाकवि पं. दौलतरामजी कासलीवाल के वे परम भक्त थे। जयपुर मे इन्द्रध्वज विधान जैसा विशाल आयोजन उन्ही के समय मे हुआ था और उसकी सफलता में उनका पूर्ण सहयोग रहा था।

पं. विजैनाथ के उक्त पद्यनुवाद की एक और विशेषता है कि प्रस्तुत पद्यानुवाद महाकवि दौलतराम द्वारा संशोधित है जिसका स्वयं कवि ने उल्लेख किया है। पं० दौलतरामजी अपने समय के महाकवि, भाषा टीकाकार एवं गद्यानुवादक थे। कवि की अब तक 18 रचनाओं का परिचय मैंने अपनी पुस्तक "महाकवि दौलतराम कासलीवाल

व्यक्तित्व एव कृतित्व" मे दी है। लेकिन भक्तामर स्तोत्र के पद्यानुवाद का उल्लेख उन्होने स्वय ने कहीं नहीं किया और न पद्यानुवाद की पहिले उपलब्धि ही हुई थी। सभवत महाकवि के लिये यह कोई बडा कार्य नही था। पता नहीं उन्होंने ऐसे कितने काय किये होगे। प विजैनाथ ने अपनी कृतज्ञता महाकवि के प्रति निम्न प्रकार की है —

ज्ञान रूप सुभ धम मय,
सुभ जैपुर विश्राम।
लघुमति सो कीनी सुकवि,
सोधी दौलतिराम ॥

इसके अतिरिक्त प विजनाथ ने पद्यानुवाद समाप्ति का समय सवत् 1825 पोष सुदी 13 मगलवार दिया है —

पोस मास पक्ष श्वेत सो, तेरसि तिथि भृगुवार।
जय ज्युत जैपुर के विषै भाषा वरनी सार ॥
सवत अष्टादश सहस पुनं पचीस कहेव।
वाचं पढं जुप्रीति सों मुक्ति रमणि सुख लेव ॥57॥

कवि ने एक और उल्लेखनीय वात लिखी है वह है—भक्तामर का रचना काल जो राजा भोज के समय का है —

मानतु ग मुनिराज ने भोज समै करि भाव।
कीयो सस्कृत स्तोत्र यह, जपं सुरासुर राव ॥

इस प्रकार यह पद्यानुवाद अतीव महत्त्वपूर्ण है जिसका प्रकाशन होना आवश्यक है।

अमृत कलश
बरकतुल्ला नगर
टोंक फाटक, जयपुर



भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मन्दिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥

अज्ञानी, मन्द और मूढ (व्यक्ति) (जो) भोग की लालसा के दोष मे डूबा हुआ (है), जिसकी (स्व-पर) कल्याण तथा अभ्युदय मे विपरीत बुद्धि (है), (वह) (अशुभ कर्मों के द्वारा) बांधा जाता है, जैसे कफ के द्वारा मक्खी (बांधी जाती है)।
—समणसुत्त-चयनिका

अपभ्रंश कवियों की 'आत्मलघुता' का मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा पर प्रभाव

— डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'
[एम. ए. (स्वर्ण पदक प्राप्त), पी-एच डी.]

कवि विराट की अभिव्यक्ति में सक्षम होता है तथापि 'आत्मलघुता' का प्रदर्शन उसका स्वभाव है। 'आत्मलघुता' व्यक्त करना अपभ्रंश कवियो का विशेष गुण रहा है। संस्कृत वाङ्मय में भी यह प्रवृत्ति प्रचलित रही। अपभ्रंश काव्य में तो इस काव्यरूढ़ि का खुलकर उपयोग हुआ है। संस्कृत, अपभ्रंश साहित्य से होती हुई 'आत्मलघुता' की यह काव्यरूढ़ि हिन्दी साहित्य संसार में अवतरित हुई है।

रघुवंश में कालिदास विनय प्रकट करते हुए कहते हैं कि मेरा रघुवंश का वर्णन करना वैसा ही है जैसा बौने आदमी का समुद्र तैरना—यथा—

क्व सूर्य प्रभवोवंशः क्व चाल्प विपयमतिः।
तितीर्प दुंस्तरं मीहादुदुपेनास्मि सागरम् ॥
(रघुवश, प्रथम सर्ग)

लेकिन उत्तरकालीन संस्कृत साहित्य मे आत्मगर्वोक्ति का भाव अधिक बढ़ा है। इसके दो कारण है—एक तो राज्याश्रय और दूसरे दार्शनिक तार्किक विद्वानों का काव्य-रचना में प्रवृत्त होना। अपभ्रंश कवि प्रायः इससे दूर ही रहे हैं।

पूर्ववर्ती कवियों और लेखकों को नमस्कार करने की पद्धति गद्य कथाओं मे आवश्यक अंग समझी जाती थी। बाण के पहले सुबन्धु में भीहम यह पाते है। बाण परवर्ती लेखको में यह प्रवृत्ति और अधिक मुखर होती गई है। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रायः सभी कवियो ने इस परिपाटी का अनुसरण किया है।[1] वस्तुतः 'आत्मलघुता' की यह परम्परा प्राकृत कवियों की देन है और इनके निम्न हेतु हो सकते है[2]—यथा—

1. धार्मिक परम्परा में गुरु परम्परा का निर्देश आवश्यक था परन्तु इसका अनुकरण साहित्य मे भी हुआ।

2 वे आत्मलघुता व्यक्त कर लोकभाषा में काव्य रचना के अपने प्रयत्न को कटु आलोचना से बचाना चाहते थे।

3 संस्कृत साहित्य के कठोर उपहास से बचाने के लिए।

आचार्यों ने 'कविमनीषी परिभू स्वयभू' कहकर कवि को सर्वशक्तिमान कहा है। अपभ्रंश कवि यद्यपि शास्त्रज्ञ होता है तथापि स्वय को अल्पज्ञ कहता है। अपने अभीष्ट के विषय मे सब कुछ कहते-कहते अपने आपको तुच्छ और असमर्थ अनुभव करने लगता है। वस्तुत आत्मलघुता विनम्रता का द्योतक है। विद्या विनम्र बनाती है, ज्ञान के साथ विनम्रता सौन्दर्यवत्ता से अलकृत हो जाती है। महाकवि स्वयभू अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहते हैं कि मेरे समान दूसरा कोई कुकवि नहीं है–यथा—

मइँ सरिसउ अण्णु णाहि कुकई।
(पउमचरिउ, भाग 1, सधि 1, कडवक 3, पृष्ठ 8)

आगे कवि कहता है कि मैंने यह विनय सज्जन लोगों से ही की है और अपना अज्ञान प्रदर्शित किया है–यथा—

एहु सज्जण लोयहो किउ विणउ।
ज अबुहु पद रिसिउ अप्पणउ॥
(पउमचरिउ, भाग 1, सधि ', कडवक 3, पृष्ठ 8)

कवि कोविद पुष्पदत ने विद्वानों की आलोचना तथा पूर्व प्रचलित परम्परा को ध्यान मे रखते हुए अपने काव्य में 'आत्मलघुता' का प्रदर्शन कर इस काव्य रूढि का प्रयोग बखूबी किया है। 'महापुराण' की प्रथम सधि मे कवि अपनी अज्ञानता प्रकट करते हुए कहते हैं कि मैंने अकलक कणयर, कपिल, वैशेषिक, वैदिक, बौद्ध और चर्वाक दर्शनों को नही जाना। न मैंने दत्तिल और विसाहिल को पढा। भरतमुनि और पतजलि की रचनाओ का मैंने अभ्यास नहीं किया। इतिहास और पुराणो का भी ज्ञान मुझे नही है। भावाधिप, भारवि, भरत, व्यास कोहल, कालिदास, चतुर्मुख, स्वयभू, श्रीहर्ष, द्रोण, ईशान, और बाण को भी नही जानता। इसके अन्तर कविश्री पुष्पदत ने व्याकरण, जैनागम, अलकार शस्त्र पिंगल विस्तार के प्रति अपना अज्ञान व्यक्त किया है यथा—

अकलक कविलकणरमपाइ दिय सुगम पुरदणय सयाह।
दत्तिल विसगहि लु द्धारियाइ णय णायइ अरह विवारियाह॥
× × × × × ×
हउ वप्प णिरक्खर कुक्खिमुक्खु वेसें णर हिंडम्मि चम्म रुक्खु।
अइ दुग्गमु होइ महा पुराणु कुडएण मवई को जल णिहाण॥
(महापुराण सधि 1, कडवक 9, पृष्ठ 10)

'महापुराण' म पुष्पदत ने स्वय को अनेक स्थनों पर जड कहा है। सधि उनसठ में कवि अपने का जड बताते हुए कहता है कि जिनधर्म का मुझ जड के द्वारा क्या वर्णन किया जाय? चचल लहरो का समूह

सागर क्या कुतुव से मापा जा सकता है ?[3] कविश्री ने अपने को कुकवि होना भी स्वीकार किया है ।[4] महाकवि पुष्पदत ने अपने अन्य ग्रन्थ 'णायकुमार चरिउ' मे भी नागकुमार और लक्ष्मीमति के विवाह प्रसंग मे उनको कामदेव और रति सदृश वताते हुए स्वयं को जड़ कवि कहा है–यथा—

अण्णहिं दिणे करिवरगइ परिणाविय लच्छीमइ ।
सो वम्यहु सा रइ सइं किं वण्णमि हउं जडकइ ।।
(णायकुमारचरिउ, संधि 6, कड़वक 9, पृष्ठ 98)

मुनि कनकामर भी प्राय: अपनी अल्पज्ञता उक्त कवियों के स्वर मे स्वर मिलाकर ही व्यक्त करते हैं–यथा—

वायरणु ण जाणमि जइ वि छंदु ।
सुअजलहि तरेव्वइं जइ वि मंदु ।।
जइ कह वण परसइ ललिय वाणि ।
जइ बुहयण लोयहो तणिय काणि ।।
(करकंडचरिउ, संधि 1, कड़वक 2, पृष्ठ 1)

धनपाल अपनी अकिंचनता की घोषणा इस तरह करते हैं कि "मैं गुणहीन और अर्थहीन हूँ, प्रतिभा और वैभव दोनों में क्षीण होने से मैं विद्वानो की सभा मे शोभा पाने योग्य नहीं हूँ । निर्धन व्यक्ति की कोई शोभा नहीं होती और धन विना पुण्य के नही मिलता । फिर भी मैं थोड़ा वहुत प्रयत्न करता हूँ । जिसकी जितनी वुद्धि होती है वह उतनी ही अभिव्यक्ति कर सकता है । महाकवियों की कथा से चन्द्रमा के उदय होने पर क्या जुगनू अपना चमकना वन्द कर देता है ?[5]

अपभ्रंश के रहस्यवादी कवि जो इन्दु ग्रन्थ के अन्त मे 'आत्मलघुता' का परिचय इस प्रकार देते हैं–यथा—

जं मइं किं पि विजंपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु ।
तं वरणाणि खमंतु महु, जे वुज्झहिं परमत्थु ।।

अर्थात् मैंने जो कुछ कहा वह उचित-अनुचित रहा होगा, परन्तु जो परमार्थ के यथार्थवेत्ता हैं वे मुझे क्षमा कर ही देंगे । उनका अर्थ यह है कि जो ज्ञानी परमार्थ को जानते हैं वे भाषा के माध्यम की त्रुटियों को नही देखेंगे और मूर्ख से क्षमा याचना का कोई महत्त्व ही नहीं है ।

वीर कवि कहते है कि 'सुन्दर काव्य' रचना में लगे हुए मन वाले मुझ जड़वुद्धि ने कौनसी सामग्री एकत्र की है ? यथा—

सुकवित्त करणि मणवावडेण सामग्गिकवण किय मइं जडेण ।
(जंबूसामिचरिउ, संधि 1, कड़वक 3, पृष्ठ 4)

भोलेपन से ऐसा समझकर कि मैं काव्य रच सकूंगा, यथा—

मुहिएण कव्वु सक्कमि करेमि ।
(जंबूसामिचरिउ, संधि 1, कड़वक 3, पृष्ठ 5)

कवि वीर रचना धम मे प्रवृत्त होते हुए कडवकान्त मे कहते हैं—

अह महकइ रइउ पवधु मइ कवरणु चोज्जु ज किज्जइ ।
विद्धइ हीरेरण महारयरणे सुत्तेरण वि पइ सिज्जइ ।।

(जबूसामिचरिउ, सधि 1, कडवक 3, पृष्ठ 5)

हरिदेव कवि 'मयरणपराजयचरिउ' मे अपनी अज्ञानिता व्यक्त करते हुए अपनी धृष्टता स्वीकारते हैं-यथा—

सद्दा सद्दु विसेसयरु लक्खरणु रणउ जारणेमि ।
छदु वि सालकारु तह धिट्ठिम कव्वु करेमि ।।

(मयरणपराजयचरिउ, सधि 1, छदाँक 3, पृष्ठ 2)

श्री रइधू ने 'सुकोसल चरिउ' मे स्वय को जडमति और अगव कहा है—

हउँ करमि कव्वु जडमइ अगव्वु ।
गुरुवयरणु केम लघेवि एम ।।

(सुकोसलचरिउ, 1–5, रइधू ग्रथावली पृ 168)

तथा शब्दाथ पिगल ज्ञान रहित बतलाया है—

पिंगल-छदु वि दुविहत्ति रण जारणमि किं अप्पउ कइत्तु गुरिण मारणमि ।

(सुकोसलचरिउ, 1–3–14, रइधू ग्रथ पृ 166)

अयकृति 'धण्णकुमार चरिउ' मे श्री रइधू ने अपने आपको अविनीत तथा मूर्ख तक कह दिया है—

वहु सुयरयरणायर ते ए भायर जे कविइ हुव वट्ट ति इह ।
ते महु अविरणीयहु भवदुहभीयहु खमउ दोसु हउँ वाल जिह ।।

(धण्णकुमारचरिउ 1–5, रइधू ग्रथा० 268)

अब्दुलरहमान पहले अपने से पूर्व के कवियो का वर्णन करते हैं फिर कहते हैं कि मुझ जैसे कवियो की प्रशसा कौन करेगा । तब भी वह इस काम से विरत नहीं हो सकता क्योकि चन्द्रोदय होने पर भी घर मे दिया जलाया ही जाता है—यथा—

तारणु कईरण अम्हारिसारण सुइसद्दसत्थरहियारण ।
लक्खरण छदपमुक्क कुकवित्त को पससेइ ।।
अहवा रण इत्थ दोसो जइ उइय ससहरेरण रिणसि समए ।
ता किं रण हु जोइज्जइ भुअरणे रयरणोसु जोइक्ख ।।

(सदेशरासक, प्रथम प्रक्रम, श्लोकाक 78, पृष्ठ 144)

विद्यापति ने 'कीर्तिलता' मे आत्मविनय प्रस्तुत करते हुए अपने आपको विषधर' कहा है—

अवसओ विसहर विस वमइ,
अमिय विमुक्कइ चन्द ।।

(मगलाचरण, छदाक 3, पृष्ठ 3)

इसी प्रकार अपभ्रंश के अन्य कवियों नयनंदि, पदमकीर्ति, देवसेन, सिंहकवि, पण्डित लक्खण, लखमदेव, सधारु तथा भट्टारक विनयचन्द्र की कृतियो में 'आत्मलघुता' की इस परिपाटी के अभिदर्शन होते हैं।

प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा से अनुप्राणित मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा प्रवाहित हुई है।[6] अपभ्रंश काव्य में प्रयुक्त काव्य रुढ़ि, 'आत्मलघुता' की भावना से रामभक्ति शाखा के संत कवि तुलसीदास सर्वाधिक प्रभावित हैं। महाकवि तुलसीदास ने प्रायः अपने सभी ग्रंथों में 'आत्मलघुता' का प्रदर्शन किया है। 'रामचरितमानस' मे कवि तुलसी कहते हैं कि मै राम के गुणो की कथा वर्णन करने तो चला हूँ पर मैं देखता हूं कि मेरी बुद्धि छोटी और कंगाल है। मेरी बुद्धि ओछी-छोटी होने पर भी चाहना अमृत प्राप्ति की हैं—यथा—

करन चहौं रघुपति-गुन-गाहा, लघुमति मोरि चरित अवगाहा।
सूझ न एकौ अंग उपाइ, मन मति रंक, मनोरथ राऊ।
मति अति नीचि, ऊँचि रुचि आछी, चाहिय अमिय, जग जुरै न छाछी॥

(बालकाण्ड छंदांक 8.3,4)
(तुलसी ग्रंथावली, पृष्ठांक 19)

एक अन्य स्थल पर भक्त तुलसीदास अपनी अज्ञानता का परिचय इस प्रकार देते हैं—

कवि न होउँ नहिं वचन-प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या-हीनू॥
आखर, अरथ, अलंकृति नाना।
छंद, प्रबंध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा।
कवित-दोष-गुन विविध प्रकारा॥
कवित्त--विवेक एक नहीं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

(बालकाण्ड, छंदांक 9.4.5)
(तुलसी ग्रंथावली पृष्ठांक 21)

'पार्वती मंगल' मे कवि ने स्वय को काव्य-रीति से अनभिज्ञ स्वीकारा है—

कवित्त-रीति नहि जानउँ, कवि न कहावउँ।

(तुलसी ग्रंथावली, भाग 2, पृष्ठांक 21)

तुलसीदास ने 'गीतावली' में अपने को मूर्खों का सरदार कहा है—

कहै तुलसीदास क्यों मतिमंद-सकल नरेस।

(तुलसी ग्रन्थावली, भाग 2, पृष्ठांक 523)

तथा अन्य स्थल पर अपने को लघुमति, मूर्ख, कठोर हृदय और गवार तक कह दिया है—यथा—

तुलसिदास कहु, कहै कौन विधि,
अति लघुमति, जड, क्रूर, गवारु ।
(गीतावली, उत्तरकाड, छदाक 10 5)
(तुलसीग्रथावली, भाग 2, पृष्ठाक 524)

'विनयपत्रिका' मे रागद्वेष आदि द्वन्द्वो मे फसा हुआ कवि तुलसीदास स्वय को मतिमद अगीकार करता है—

तुलसिदास मतिमद द्वद-रत,
कहै कौन विधि गाई ।
(विनयपत्रिका, छदाक 62)
(तुलसी ग्रथावली भाग 2, पृष्ठ 650)

इस प्रकार अपभ्र श कवि श्री पुष्पदत की तरह महाकवि तुलसीदास ने अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन ज्यू का त्यू अपने काव्य मे अतिरेकता के साथ किया है ।

रीतिकाल के आचाय कवि केशव ने 'कविप्रिया' मे 'गणेशवदना" के पश्चात् स्वय को 'मदमति' से सम्बोधित किया है—

भाषा वेलि न जानई जिनके कुल को दास ।
भाषा कवि भो मदमति तिहि कुल केसवदास ।।
(छदाक 2)

'रामचन्द्रिका' मे "सरस्वती वदना" करते हुए केशवदास अपने को असमर्थ तथा मतिहीन मानते हैं—

बानी जगरानी की उदारता बखानी जाय ।
ऐसी मति कहो धो उदार कौन की भई ।।
× × × ×
भावी भूत वर्तमान जगत बखानत है ।
केसोदास केहू न बखानी काहू पै गई ।।
(छदाक 2)

'मधुमालति' मे कवि मझन ने ईश्वर की स्तुति करते समय स्वय की हीनता प्रकट की है—

पडित मुनिजन ब्रह्म विचारी ।
तुअ अस्तुति जग काहु न सारी ।।
एक जीभि मैं कैसे सारो ।
सहस जीभि चहु जुग नहि पारो ।।
तीनि भुअन घट-खट मह अनवल रूप बेलास ।
एक जीभि कहु ताहि कै कैसे अस्तुति करै हुवास ।।
(छदाक 1)

मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों ने भी आत्मलघुता की परम्परा का निर्वाह बखूबी किया है। भैया भगवतीदास के काव्य में आत्मलघुत्व की भावना द्रष्टव्य है। 'ब्रह्मविलास' का संग्रह करते समय उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मैं अल्पबुद्धि जीव हूं, कोई विद्वान इसमें अशुद्धि देखे तो इसका उपहास न करे--

बुद्धिवंत हसियो मति कोय। अल्पमति भाषा कवि होय।
भूलचूक निज नयन निहारि। शुद्ध कीजियो अर्थ विचारि ।।

'द्रव्यसंग्रह' का प्राकृत से हिन्दी भाषा मे अनुवाद तथा भाव विस्तार करने के पश्चात् भी कवि की आत्मलघुता की भावना स्पष्ट झलकती है—

हमसे मूरख समझै नाहीं। गाथा पढ़ै व अर्थ लखाहिं।

'शत अष्टोतरी' ग्रंथ मे विनयोक्ति की पराकाष्ठा हो गई है। भैया भगवतीदास अपनी आत्मलघुता को दर्पणवत् प्रकट कर देते है—

एहो बुद्धिवत नर हंसो जिन मोहिं कोऊ,
बस्त ख्याल लीनों तुम लीजियो सुधारि कै ।
मै न पढ़यो पिंगल न देख्यो छंद कोश कोऊ,
नाम माला नाम को पढ़ो नहीं विचारि के ।
संस्कृत प्राकृत व्याकरणहू न पढ़यो कहूं,
ताते मोको दोष नाहिं शोधियो निहारि के।
कहत भगोतीदास ब्रह्म को लहयो विलास,
ताते ब्रह्म रचना करी है विसतारि के ।।
(शत अष्टोत्तरी, छंदांक 107)

महाकवि बनारसीदास ने 'समयसार नाटक' की "उत्थानिका" में मनहर छंद मे उदाहरणालंकार द्वारा आत्मलघुता का वर्णन करते हुए स्वय को अल्पबुद्धि और पागल तक कह दिया है--

जैसे कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवे कौं,
भुजानि सौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ।
जैसे गिरि ऊपर विरख फल तोरिवे कौं
बावनु पुरुष कोऊ, उमगै उतावरौ ।।
जैसे जलकुंड में निरिखि सीस-प्रतिबिम्ब,
ताके गहिबे कौं कर नीचौ करै टाबरौ।
तैसे मैं अल्प बुद्धि नाटक आरम्भ कीनौ,
गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बावरौ ।।
(12वां छंद)

कवि भूधरदास ने 'पार्श्वपुराण' मे अपने अल्प काव्यत्व के लिए विद्वत्समाज से क्षमा याचना की है—

अमरकोष नहिं पढ्यौ मैं न कहिं पिंगल पेरयो,
काव्य कंठ नहिं करी, सारसुत सो नहिं सीरयो,
अच्छर संधि समास ज्ञान वर्जित विधि हीनो,
धर्म भावना हेतु किमपि भाषा यह कीनो,
जो अर्थ छंद अनमिल कही सो बुध फेरि संवारियो,
सामान्य बुद्धि कवि की निरखि छिमा भाव उर धारियो ।।

(पृष्ठ 91)

एक अन्य स्थल पर कवि भूधरदास उत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारो मे आत्मलघुत्व की स्पष्टता व्यक्त करते हैं कि तुच्छ बुद्धि की यह रीति रही है कि सामान्य कार्य को भी वह बहुत महत्त्व प्रदान करती है जैसे किसी कण को ढोकर ले जाती हुई एक पिपीलिका इतनी गर्वित रहती है मानो कोई किला ही जीतकर जा रही हो—यथा—

सुलभ काज गरुवौ गनै, अल्प बुद्धि की रीति ।
ज्यो कीडी कण ले चलें किधो चली गढ जीति ।।

(पार्श्वपुराण, पृष्ठ 91)

इनके अतिरिक्त कवि कुमुदचन्द, जगजीवन, मनराम और रूपचन्द आदि के पदो मे भी आत्मलघुता को मुख्यता दी गई है ।

इस प्रकार अपभ्रंश कवियो की 'आत्मलघुता' के प्रयोग की प्रभावना मध्ययुगीन हिन्दी काव्यधारा मे सफलता के साथ परिलक्षित है । इस काव्य रूढि का व्यवहार कवियो ने गुरुपरम्परा, आलोचना तथा उपहास के कारण किया है । आराध्य की महत्ता के समक्ष भक्त को अपना प्रत्येक गुण और कार्य लघु ही प्रतीत होता है । भक्ति के क्षेत्र मे लघुता का भाव हीनता का द्योतक नही है । भक्त जितना ही अधिकाधिक अपने को लघु अनुभव करता जाएगा उतना ही विनम्र होता जाएगा और आराध्य के समीप पहुँचता जाएगा ।

मंगलकलश
394, सर्वोदय नगर आगरा रोड,
अलीगढ–202001 (उ प्र.)

संदर्भ संकेत

1 हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल, संस्करण 1953, पृ 7 ।
2 अपभ्रंश भाषा और साहित्य डॉ देवेन्द्र कुमार जैन, संस्करण 1965, पृष्ठ 146 ।
3 महापुराण भाग 3, सम्पादक डॉ देवेन्द्र कुमार जैन, संधि 59 पृष्ठ 337 ।
4 महापुराण, भाग 2, सम्पादक डॉ देवेन्द्र कुमार जैन, संधि 36 पृष्ठ 339 ।
5 भविसयत्त कहा, पृष्ठ 1 ।
6 मध्ययुगीन हिन्दी प्रबंध काव्यो मे कथानक रूढ़ियाँ, डॉ ब्रजविलास श्रीवास्तव, संस्करण 1968, पृ 104 ।

कवि फूलचन्द 'पुष्पेन्दु'

□ श्री रमाकान्त जैन
ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

अपने काव्य कुसुमों से वाग्देवी का शृङ्गार करने तथा हिन्दी भारती का भण्डार समृद्ध करने वाली जिन प्रतिभाओं को जन्म देने का लखनऊ नगर को श्रेय है उनमे इसी 20वी शताब्दी में हुए एक कवि 'पुष्पेन्दु भी थे ।

बाल्यकाल मे अपने पिताजी के साथ गणेशगज में बा० अजितप्रसादजी के निवास 'अजिताश्रम' में हुई गोष्ठियो में से अनेक मे मुझे भी जाने का सुअवसर प्राप्त हुआ । इन गोष्ठियों मे बुजुर्गो द्वारा की जाने वाली ज्ञान-चर्चा तो अपनी बालबुद्धि से परे थी, किन्तु उन्ही गोष्ठियो मे नियमित भाग लेने आने वाले सांवले रंग, मझोले कद, छरहरे बदन, तितलीनुमा मूंछो वाले प्राय. सदरी और पायजामा पहनकर आने वाले तरुण पुष्पेन्दुजी द्वारा मधुर कण्ठ से सुनाई गई कविताएं तब भी कर्ण कुहरों को प्लावित करती थी और उनकी गाई महावीर संदेश की ये पंक्तियां—

"जिसने जग के सब जीवों को
निर्भय जीवन का दान दिया,
मिथ्या भ्रम मे भटकी जनता को
जिसने अनुपम ज्ञान दिया
सुन लो उसका
पावन संदेश सभी,
हिंसा मे धर्म नही रहता,
है यही सुन्दर संदेश नेक।"

आज भी कानों में गूजंती रहती हैं । उन गोष्ठियों के अतिरिक्त लखनऊ मे अन्यत्र भी आयोजित अनेक समारोहों में उनकी काव्यसुधा का जब तब रसपान करने को मिला ।

यहियागज लखनऊ के एक मध्य वित्त व्यापारी अग्रवाल दिगम्बर जैन परिवार में जन्मे फूलचन्द छह भाई थे । यद्यपि सभी भाइयो को साहित्य और सगीत से लगाव था, फूलचन्द में काव्य रचना की प्रतिभा नैसर्गिक थी । जब वह 11 वर्ष के बालक ही थे उन्होने लखनऊ के सफेदा आम पर निम्नोक्त मौलिक रचना गढ़ डाली थी—

"लखनौआ सफेदा औ लंगडा बनारस का,
दोनो ही आम मे शिरोमणि कहायो है ।
लखनऊ के सहसाह दूध से सिंचायो जाय,
ताहि केरि वन्सज सफेदा नाम पायो है ।
याही से लड़न को बनारस मे धायो एक,
बीच ही मे टांग टूटी लंगड़ा कहायो है ।
कहे 'पुष्प इन्दु' वाने यत्न बहुतेरे कीन्हे
तबहूं सफेदा की नजाकत न पायो है ।"

इन पंक्तियो से पता लगता है कि इस अल्प वय मे ही इतनी सुबोध भाषा मे ऊंची उड़ान भरने की क्षमता फूलचन्द जी मे थी और अपने नाम का संस्कृत अनुवाद कर अपना कवि नाम 'पुष्प इन्दु' रख लिया था ।

कदाचित् पारिवारिक परिस्थितियो के वशीभूत हो फूलचन्द जी उच्च कालेजी शिक्षा नही पा पाये और उन्हे शीघ्र ही अर्थोपार्जन हेतु व्यवसाय मे लग जाना पडा, किन्तु उनका कवि मन काव्य साधना मे रमा रहा और उनकी सगति नगर के कवियो, साहित्य रसिको और विद्वानों के साथ होती रही। नवजीवन के सहायक सम्पादक वा ज्ञान चन्द जैन और प्रसिद्ध उपन्यासकार अमृत लाल नागर उनकी मित्र मण्डली मे थे और पिताजी एक विद्वान होने के नाते उनके श्रद्धा भाजन थे। अपनी शैक्षिक योग्यता बढाने की लगन उनमे बनी रही। दिसम्बर 1951 मे जब मैं साहित्य विशारद की परीक्षा दे रहा था तब मेरे पितृव्य तुल्य पुष्पेन्दु जी भी मुझे परीक्षा हाल मे साथ ही परीक्षा देते हुए मिले। इनके कवि मन को व्यापार धन्धा रास नही आया और उसे छोड अवसर मिलने पर उन्होन नवजीवन' समाचार पत्र के सम्पादकीय विभाग मे कार्य करना प्रारम्भ कर दिया।

सन् 1944 मे जैन ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित अपनी 'आधुनिक जन कवि' मे फूलचन्द 'पुष्पन्दु' का परिचय देते हुए स्व रमा रानी जैन ने लिखा था, "इनकी कविता नितान्त मौलिक और अकृत्रिम होती है। वह अपने हृदय के भावो को व्यक्त कर सकने वाले शब्दो और उनके अनुरूप शली को सहज भाव से प्राप्त कर लेते हैं। उनकी सभी रचनाए परिस्थितियो से आलोडित हृदय सागर के मन्थन का परिणाम है। उनके गीतो मे ताजगी और आँसुओ का सजल क्षार है।" इन पक्तियो से स्पष्ट है कि उस समय तक 'पुष्पेन्दु' जी जैन समाज मे प्रतिष्ठित कवि हो चुके थे। यही नही कवि गोष्ठियो मे भाग लेने के कारण वह जैनेतर समाज मे भी हिन्दी कवि के रूप मे समादृत थे।

कवि 'पुष्पेन्दु' को व्यक्तिगत जीवन मे काफी सघर्ष और पीडा मिली थी। उनके 3 विवाह हुए थे—प्रथम पत्नी बहुत जल्दी कालकवलित हो गई थी, दूसरी काफी रुग्ण और मानसिक रूप से व्यथित रही जिसकी बहुत धैर्य और सवेदनशीलता के साथ काफी समय तक सेवा सुश्रुषा इन्हें करनी पडी थी और जब तीसरी जीवन सहचरी मिली तो जल्दी ही कई कन्याओ के पिता बन, बच्चो गृहस्थी छोड वह स्वय स्वर्ग सिधार गये। दूसरो को प्रसन्न बदन दीखने वाले और उन्हें अपनी काव्य सुधा से आनन्दित करने वाले इस कवि के अन्तर्मन की पीडा की छाया उनकी रचनाओ मे भी उभरी जो सहज स्वाभाविक ही थी, किन्तु आस्थावान और आशावादी होने के नाते उन्होने उसे ऐसा स्वर दिया कि वह सुनने और पढने वालो को असह्य न हो, अपितु, उन्हे भी पीडा सहने की शक्ति दे। इस प्रसग मे उनकी ये पक्तियाँ स्मरण हो आती है, "दुख तो मानव की सम्पत्ति है, तू दुख से क्यों घबराता है।"

विभिन्न पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित होने के साथ साथ उनकी रचनाओ का एक सकलन 'वसन्त बहार' नाम से उनके मित्रो ने उनके दिवगत होने पर प्रकाशित कराया था। उनकी रचनाए कितनी सुबोध और प्रसादगुण युक्त होती थी और उन्होने अपनी अनुभूतियो को कैसा स्वर दिया उसकी झलकी हम उनकी इन रचनाओ मे ले सकते हैं।

स्मृति अश्रु

विगत मे जो सो रही थी,
काल-क्रम का डाल आचल।
दूर होता जा रहा था,
दृष्टि से जो दृश्य प्रति पल॥
मैं जिसे इतने दिनो पर,
आह! था अब भूल पाया।
आज धुधली पड चली थी
जिस विगत की क्षीण छाया॥

आज कोकिल कूक कर फिर,
कह गई बीती कहानी।
जागरित फिर हो पड़ी,
संस्कार की सत्ता पुरानी॥

शान्त उर में फिर लगा,
उठने वही भीषण बवण्डर।
अश्रु-कण तुम भी चले;
आये पुरानी याद लेकर॥

देवद्वार पर

आज आया हूँ यहाँ पर विश्व का विश्वास लेकर।
आज आया हूँ यहाँ पर विश्व भर की आस लेकर॥
पाद पद्मों में तुम्हारे सर झुकाता जा रहा हूँ।
गुनगुनाता जा रहा हूँ॥

आपको अपना समझकर वेदना के द्वार खोले।
सब निवेदन कर चुका मैं, किन्तु तुम कुछ भी न बोले॥
इस तुम्हारी मौनता पर मुस्कराता जा रहा हूँ।
गुनगुनाता जा रहा हूँ॥

एक निर्धन भी अरे करता अतिथि सत्कार कैसा।
विश्वपति यह फिर तुम्हारा है भला व्यवहार कैसा।
आज इस आश्चर्य मे दुःख भी भुलाता जा रहा हूँ।
गुनगुनाता जा रहा हूँ॥

भूलता सा जा रहा हूँ वेदना का भार भगवन्।
भूलता सा जा रहा हूँ नाथ मैं अपना निवेदन॥
हृदय के आवेश मे, मैं कुछ सुनाता जा रहा हूँ।
गुनगुनाता जा रहा हूँ॥

व्यथा

जागे आज व्यथा के भाग॥
जो कवि से उत्पन्न हुआ है अब उसे अनुराग॥
जागे आज व्यथा के भाग॥

× × ×

कितने मानव तुझे प्राप्त कर इस जग में वे मौन मरे।
केवल कवि है जो मरकर भी, तुझको जग मे अमर करे॥
कवि ने आंखों मे पाला है तेरा अचल सुहाग।
जागे आज व्यथा के भाग॥

इन रचनाओं मे सहसा छायावादी कवियों, विशेषकर प्रसाद जी और महादेवी जी का स्मरण हो आता है। पुष्पेन्दु जी कैसा मार्मिक व्यंग्य करते थे यह भी इन रचनाओं से स्पष्ट है। □

तृतीय खण्ड

इतिहास एवं पुरातत्व

तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि–
"विदेह का कुण्डपुर" कहां ?

□ गणेश प्रसाद जैन

जन्म-भूमि—

सम्पूर्ण प्राचीन जैन वाङ्मय दिगम्बर और श्वेताम्बर इस विषय मे एक मत है कि तीर्थंकर 'महावीर' का जन्म 'विदेह स्थित कुण्डपुर' में हुआ था। 'कुण्डपुर' जन्म-भूमि की स्थिति स्पष्ट करने के लिये ही 'विदेह-स्थित कुण्डपुर' का उल्लेख हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'महावीर' के जन्म-काल में देश मे कुण्डपुर' नाम के अन्य नगर भी स्थित थे, तभी जन्म–भूमि–स्थल को स्पष्ट करने के लिए ही 'विदेह स्थित कुण्डपुर' लिखा गया।

दिगम्बर–साहित्य में—

आचार्य 'पूज्यवाद' विरचित संस्कृत-भाषा ग्रन्थ निवार्ण–भक्ति मे तीर्थंकर 'महावीर' के जन्म सम्बन्धी विषयों पर गहराई से प्रकाश डाला गया है। लिखा है कि

"सिद्धार्थ नृपतितनयो भारतवास्ये विदेह कुण्डपुरे।
देव्या प्रियकारिण्यां सुस्वप्ना सम्प्रदर्श्य विभु ॥4॥
चैत्र सितपक्ष फाल्गुनि शशांक योगे दिने त्रयोदश्याम्

जज्ञेस्वोच्चस्थेषु ग्रहेषु सौम्येषु शुभलग्ने ॥5॥
हस्ताश्रिते शशांके चैत्रज्योत्स्ने चतुर्दशी दिवसे।

पूर्वाह्ने रत्न घटै विबुधेन्द्राश्चक्रुरभिषेकम् ॥6॥

अर्थात्—सिद्धार्थ राजा के पुत्र (वर्धमान महावीर) को भारत देश के विदेह प्रान्त के कुण्डपुर मे देवी प्रियकारिणी (त्रिशला) ने सुन्दर स्वप्नो (दिगम्बर में 16, श्वे० में 14) को देख कर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को फाल्गुनि नक्षत्र (शशांक योग) मे अपने उच्च स्थान वाले सौम्य ग्रह तथा शुभलग्न मे जन्म दिया, और चतुर्दशी को पूर्वाह्न मे इन्होने रत्नघटो से (भावी तीर्थंकर) नवजात शिशु का (पाण्डुक शिला) पर अभिषेक किया।

हरिवंश–पुराण मे 'कुण्डपुर' की स्थिति को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए विस्तार से वर्णन किया गया है

"अथ देशोऽस्ति विस्तारो जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्ग खण्डसम श्रिया ।2।9।

किं तत्र वर्ण्यते यत्र स्वयं क्षत्रियनायकाः।
इक्ष्वाकुवः सुखक्षेत्रे सम्भवन्ति दिवश्च्युता ॥2।4॥

तत्राखण्डल नेत्राली पद्मिनी खण्डमण्डनम्।
सुखाम्भः कुण्डयामाति नाम्ना कुण्डपुरं पुरम् ।2।5।

भावार्थ–इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे लक्ष्मी सरीखा स्वर्ग खण्ड की तुलना करने वाला 'विदेह'

नाम से प्रसिद्ध एक बडा विस्तत देश है। उस देश का वणन क्या किया जाय, जहा के सुखदायी क्षेत्र मे छत्रियो के नायक इस्वाकु–वशीय राजा स्वगसे च्युत हो कर जन्म लेते है। उस 'विदेह' देश मे कुण्डपुर नाम का एक एमा सुन्दर नगर ह जो इन्द्र के नेत्रो की पक्ति रूपी कमलिनियो के समूह मे सुशोभित है तथा सुख रूपी जल का मानो कुण्ड है।

उत्तर-पुराण के कर्ता आचार्य 'गुणभद्र' ने इस प्रसग को निम्न (लिखित) रूप मे दर्शाया है —

"भरतेऽस्मिविदेहाख्य विषयेभवनाङ्गणे
।74।251॥
राज्ञ कुण्डपुरेशस्य वसुधासप्तपृथु ॥74।252॥

अर्थात–भरत क्षेत्र विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धाथ के भवन के आगन मे प्रतिदिन रत्नो की वर्षा हुई।

श्वेताम्बर साहित्य मे–

'श्वेताम्बर साहित्य मे "कुण्डग्राम, क्षत्रिय कुण्ड, उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर, कुण्डपुर सन्निवेश, कुण्डग्राम-नगर, क्षत्रिय कुण्डग्राम" आदि अनेक नाम तीर्थंकर 'महावीर' की जन्म-भूमि के लिये प्रयुक्त हुए हैं, परन्तु वे सब नाम एक ही नगर के पर्यायवाची मात्र हैं।

"त्रिपष्ठिशलाका पुरुष चरित्र" मे तीथकर 'महावीर' की जन्म भूमि के विषय मे हेमचन्द्राचाय लिखते हैं –

क्षत्रिय कुण्डग्रामम्यापुर मत्पुर सोदरम ।
स्थान विविधि चैत्याना धमस्यैक निबन्धनम।
अन्यायैरपरिस्पृष्ट पवित्र तच्च साधुभि ।
मृगया मद्यपानदिव्यसनास्पृष्टनागरम ।

तदेव भरत क्षेत्र पावन तीथवद भुव ॥ (10।12 15, 16, 17) ॥

भावार्थ–यह नगर नाना प्रकार के चैत्यो का स्थल था धम का साधन भूत था यहा पर अन्यायो का तो स्पश भी नही था साधुओ से यह पवित्र था। यहा के निवासियो को शिकार, मद्य पान आदि व्यवसनो का स्पश तक नहीं था। यह नगर वास्तव मे भरत क्षेत्र को पवित्र करने वाला पृथ्वी मानो तीथ ही था।

विदहे जनपद–

विदह क्षेत्र की सीमा के विषय मे शक्ति-सगम-तन्त्र (पटल 7) मे निम्नलिखित परिचय दिया है –

"गण्डकीतीरमारभ्य रम्या चम्पारण्यान्तक शिव।
विदहेभू समाख्याता तीर मुक्ताभिधोमनु" ॥

अर्थात्–गण्डकी नदी से लेकर चाम्पारण्य तक का प्रदेश विदहे (तीर मुक्त) है।

इसी विदेह जन पद का नाम तीर मुक्ति भी प्राचीन काल से प्रचलित चला आ रहा है यह तीर मुक्ति नाम ही बिगड कर आज कल तिरहुत कहलाता ह। वैशाली और मिथिला भी इसी विदेह जनपद के अग थे। प्राचीनतम् काल से विहार राज्य का गगा से उत्तर भाग विदेह और दक्षिण भाग मगध नाम से प्रसिद्ध रहा है। पुराणो म इस प्रकार उल्लेखित है –

"गगा हिमवतोर्मध्ये नदीपञ्चदशान्तरे।-
तीरमुक्तिरिख्याता देश परम् पावन ।
कौशिकी तुसमारभ्य गण्डकी मधिगम्यवै ।
योजनानि चतुर्विशद व्यायाम परिकतित
गगाप्रवाहमारभ्य यावद हेमवत वरम् ।
विस्तार षोडश प्रोक्ता देशस्य कुल नन्दन ॥

इस प्रकार विदेह अर्थात् तिरहुत (तीर मुक्ति) की देश की सीमा सुनिश्चित है। उत्तर मे हिमालय पवत और दक्षिण मे गगानदी। पूव मे कौशिकी

और पश्चिम मे गण्डकी नदी है। यह विदेह की सीमा एक विशाल क्षेत्र को सूचित कर रही है।

विदेह कुण्डपुर में कहां ?

अब यह पता लगाना है कि तीर्थंकर महावीर की जन्म-भूमि विदेह प्रदेश मे कुण्डपुर कहाँ पर उपस्थित था। वर्तमान मे कहा है? इसके निर्णय के लिये हमारा ध्यान तीर्थ० महावीर के ज्ञातृ कुलोत्पन्न, ज्ञातृ पुत्र आदि विशेषण हमे अपनी ओर आकृष्ट करते है। इन ज्ञातृ-वंशियों का निवास कहां था, इसका संकेत हमे बौद्ध- साहित्य के अतिप्राचीन ग्रन्थ 'महावस्तु' मे प्राप्त होता है। वहां प्रसंग है कि बुद्ध भगवान गंगा पार कर वैशाली की ओर जा रहे है और स्वागत के लिए वैशाली गणसंघ के लिच्छवी आदि क्षत्रियगण शोभायात्रा बनाकर भगवान 'बुद्ध' के स्वागतार्थ आते है। लिखा है :—

"स्फीतानि राज्यानि प्रशस्यमाना, सम्यग्,
राज्यानि कुर्वन्ति ज्ञातय.।
तथा इमे लच्छविमध्ये सन्तो, देवहि शास्त्रा
उपमामत्तासि ॥"

अर्थात्–ये जो क्षत्रियगण भगवान् बुद्ध के लिये आ रहे है, उनमे जो ज्ञातृ नामक क्षत्रियगण है वे अपने विशाल राज्य का शासन भले प्रकार से करते है और वे लिच्छविगण के क्षत्रियो के बीच ऐसे प्रतिष्ठित और शोभायमान दिखाई देते है कि स्वयं शास्ता अर्थात् स्वयं भगवान बुद्ध ने इनकी उपमा देवों से की है। उपरोक्त तथ्य से यह तो प्रमाणित हो ही जाता है कि ज्ञातृ कुल के क्षत्रियों का निवास स्थान वैशाली ही था और वे लिच्छवि गण मे विशेष सम्मान का पद रखते थे।

महापरिनिब्बाण सुत्त मे भगवान बुद्ध ने लिच्छवियों आदि को स्वर्ग का देवता कहा है–

'येस भिक्खूनं देवा तावतिंसा अदिट्ठा ओलो- केथ भिक्खवे, लिच्छवी परिसं अपलोकेथ भिक्खवे, लिच्छवी परिसं, उपसंहरथ भिक्खवे, लिच्छवी परिस तावतिंस सदि सन्ति " ॥66 ॥

अर्थात्–देखो भिक्खुओ। लिच्छवियो की परिषद को भिक्खुओ ! लिच्छवियो की परिषद को देव-परिषद समझो। देवताओ की परिषद सी दिखलाई पड़ने वाली लिच्छवि परिषद को देख कर महात्मा 'बुद्ध' ने पुलकित होकर आनन्द से भर कर उसे देव-परिषद् की तरह दिव्य-दर्शन कहा।

सूत्रकृतांग (1-2), उत्तराध्ययन (6) में स्पष्ट कई स्थलों पर भगवान महावीर को वैशालिय या वैशालिक सम्बोधित किया गया है। यद्यपि कुछ टीकाकारो ने वैशालिक व्यक्तित्व शील, विशाल माता के पुत्र आदि रूप से विविध प्रकार से अर्थ किया है तथापि वे अर्थ सन्तोषजनक नही है। वैशालिक का स्पष्ट अर्थ वैशाली नगर का नागरिक होना चाहिये। समवायांग सूत्र (141, 162) से सिद्ध होता है कि महावीर वैशाली नगर मे ही उत्पन्न हुए थे, और कुण्डलपुर उसी विशाल नगर का एक उपनिवेष रहा होगा।

वाल्मीकि रामायण मे (1.45) में भी वैशाली की स्थिति के विषय मे चर्चा है। लिखा है–"जब राम और लक्ष्मण विश्वामित्र मुनि के साथ मिथिला मे राजा जनक के यहा उनके द्वारा आयोजित धनुयज्ञ मे जा रहे थे, जब वे गंगा–तट पर पहुंचे, तब मुनिने उन्हे गंगा अवतरण का आख्यान सुनाया। गंगा पार कर उसके उत्तरार्ध तट पर पहुंचे। वहा से उन्होंने विशालपुरी देखा।

"उत्तरं तीरमासाद्य संपूज्यर्षिगणं ततः ।
गंगाकूले निविष्टास्ते विशालां ददृशुः पुरीम् ॥"
पश्चात्–ततो मुनिवरस्तूर्णं जगाम सहराघवः ।
विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा ॥
(वा. रा. 1, 45, 9–10)

बौद्ध ग्रन्थों मे वैशाली के विषय मे कई उल्लेख हैं। एक स्थल पर वर्णित है कि भगवान बुद्ध गगा पार कर उत्तर की ओर वैशाली मे पहुचे। वैशाली मे उस समय लिच्छवि-सघ का राज्य था। और गगा के दक्षिण मे मगध-नरेश महाराज श्रेणिक (बिम्बसार) का। 'महावीर' के काल मे वैशाली की बडी भारी प्रतिष्ठा थी और उस नगरी का नागरिक होना भारी गौरव की बात मानी जाती थी। इसीलिये कुमार महावीर (वधमान) को वैशालीया कह कर सम्बोधित किया गया है। महावीर 'विदेह' भी सम्बोधित होते थे। 'विदेह' सम्बोधित होने का तो एक कारण यह भी था कि उनकी माता त्रिशला देवी विदेह कुल की अर्थात् विदेह गणतन्त्र के सचेतक महाराजा चेटक की जेष्ठा पुत्री (इव पर से भगिनी) थी।

"आचारांगसूत्र" म लिखा है कि तेण कालेण तेण *समएण समणेभगव, वीरेणाए णायपुत्रे, णायकुलचन्दे, णायकुलणिव्वत्ते, विदेह, जच्चे विदेह सुमाले, तीस वासाई विदेह सिति कट्टु आगार मज्झे वसिता॥*

(I, 24, II)।

उपयुक्त अवतरणो से स्पष्ट है कि तीर्थंकर महावीर का जन्म ज्ञातृ-कुल मे हुआ था और वह विदेह कुल के दौहित्र (नाती) थे उनकी माता त्रिशला —'विदेह दिन्ना' भी सम्बोधित होती थी, श्वेताम्बर-परम्परा म महावीर के पिता सिद्धाथ के दो और नाम मिलते हैं। श्रेयास और यशस्वी (यशहस्वो)। माता के इस परम्परा मे तीन नामो का उल्लेख है—त्रिशलादेवी, विदेह दिन्ना और प्रियकारिणी।

माता-पिता—तीर्थंकर महावीर के पिता सिद्धाथ महाराज सर्वाथ और रानी श्रीमती के पुत्र थे आचाय जिनसेन ने हरिवश-पुराण मे इनके परिचय मे लिखा है —महाराज सर्वाथ और रानी श्रीमती से उत्पन्न, समस्त जनो का हित करने वाले सिद्धार्थ वहां कुण्डपुर के राजा के (2113) आगे वर्णित है—

"उच्चै कुलादि सम्भूता सहज स्नेह वाहिनी। महिषी श्री समुद्रस्य तस्यासीत् प्रियकारिणी॥ चेत्रश्चेटकराजस्य यास्ता सप्तशरीरजा। अति-स्नेहाकुल चनस्तास्वाद्या प्रियकारिणी॥

(2116-17)

अर्थात - जो उच्चकुल रूपी पवत से उत्पन्न हुई, स्वाभाविक स्नेह की मानो नदी थी ऐसी प्रियकायरिणी (लक्ष्मी) के समुद्र स्वरूप राजा सिद्धाथ की पटरानी थी जिन सात पुत्रियो ने महाराजा चेटक के मन को अत्यधिक मोह लिया था, उन पुत्रियो मे प्रियकारिणी (त्रिशला) सब ज्येष्ठ थी।

राजा सिद्धार्थ क्षत्रिय थे उग ज्ञातृवश था, और गोत्र काश्यप था। माता त्रिशला का पितृ वश का गोत्र वशिष्ठ था। ज्ञातृ वशीय होने से ही महावीर को नातपुत्त, ज्ञातपुत्र, सम्बोधित किया जाता था। बौद्ध-ग्रन्थ अगुत्तरनिकाय, अट्ठकथा तथा अन्य मे भी सवत्र महावीर का सम्बोधन निगठ-नतपुत्र ही हुआ है जिसका अथ निग्रन्थ ज्ञातपुत्र होता है।

वर्तमान वैशाली– आजकल वैशाली एक गाव के रूप मे विद्यमान है और 'बसाढ़' के नाम से जानी जाती है। इसके आस-पास आज भी उसके प्राचीन-स्थलो को जैसे वाणिज्य ग्राम को बनिया गाव, कोल्लाग सनिवेश को कूमन छपरा गाछी, कोल्हुआ को कमार गाव आदिनामो से पहचाना जाता है। 'कुण्डपुर' आज वासुकुण्ड' के नाम से प्रख्यात् है।

प्राचीन बौद्ध-साहित्य के अनुसार दक्षिण-पूव मे वैशाली थी, उत्तर-पूव मे कुण्डपुर था, और पश्चिम मे वणिय ग्राम (वाणिज्य ग्राम) था। कुण्डपुर के आगे उत्तर-पूर्व मे 'कोल्लाग' सनिवेश

था। इसमें प्राय: ज्ञातृवंशीय-क्षत्रिय ही निवास करते थे। इसी कोल्लाग, सन्निवेश के निकट ज्ञातृ–वंशीय-क्षत्रियो का धुतिपलाश उद्यान और चैत्य था। (विपाद-सूत्र 2) इसलिये इसे–"नायपंडवणे अथवा नायसडे उज्जाणे" कल्प सूत्र-113 आचराग सूत्र 2,15,22) कहा गया था।

"नाम करण"–बौद्ध ग्रन्थ मज्झिम निकाय, अट्ठकथा, महासिंह नादसुतवण्णना आदि के अनुसार इस नगरी 'वैशाली' के नाम करण का कारण वहां की जन-संख्या मे बराबर वृद्धि होने से उसमे अनेक गांवो को सम्मिलित करना पड़ा। ऐसा तीन चार हुआ। इसके विशाल होने के कारण ही इसे "वैशाली" कहा जाने लगा। बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार ही प्राचीन काल में वैशाली के अन्तर्गत ही कुण्डपुर और वाणिज्य ग्राम भी थे। वस्तुत. वैशाली तीन भागो में विभक्त थी। वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्य ग्राम ये तीन नगर भिन्न भिन्न थे। (*The Life of the Bhudha by Rockhall P.62*)

'वैशाली का वैभव"–वैशाली अत्यन्त समृद्ध नगरी थी। उस समय वैशाली मे दो-दो मील की दूरी पर तीन प्रकारें बनी थी। तीनो प्रकारो मे गोपुर थे, अट्टालिकायें थी और कोठे बने हुये थे (एक पण्ण जातक पृ. 128) विनय पिटक के अनुसार वैशाली महा वैभववान और धन जन से परिपूर्ण थी। उसमे 7777 प्रसाद 7777 कूटागार 7777 आराम और 7777 पुष्करिणियो थी। (विनय-पिटक महावग्ग 8/1/1)। तिब्बत से प्राप्त एक ग्रन्थ के अनुसार वैशाली मे 7000 स्वर्ण कलश वाले महल, 1400 रजत-कलश वाले महालय और 21000 तांबे के कलश वाले भवन थे। इन तीन प्रकार के निवास गृहो मे क्रमश: उत्तम, मध्यम और जघन्य (साधारण) कुल के लोग निवास करते थे।

नगर के मध्य मे एक मंगल पुष्करणी थी। इस पुष्करणी मे लिच्छवियो के अतिरिक्त किसी अन्य को स्नान करना निषिद्ध था। पुष्करणी के जल को पक्षी की चोच भी स्पर्श नही कर सकती थी। दूसरे देश के राजा इस पुष्करणी मे स्नान करने को लालायित रहते थे।

'वैशाली' मे महावीर (वर्द्धमान) के पूर्व से गण-संघ प्रणाली प्रचलित थी। इससे लगे हुये विदेह-राज्य का अन्त जनक-वंशी निमि के पुत्र कलार के समय हो गया था, और विदेह-राज्य लिच्छवियो के गण-तन्त्र-संघ से मिल गया था।

आगम-ग्रन्थो के अनुसार कुण्डपुर नाम के दो ग्राम थे, दक्षिण कुण्डपुर और उत्तर कुण्डपुर। दोनो ही सन्निवेश कहलाते थे। दक्षिण कुण्डपुर सन्निवेश मे प्रमुख रूप से ब्राह्मणो का निवास था। भगवती सूत्र (9/33) के अनुसार ब्राह्मण बस्ती वाले कुण्डपुर के ईशान कोण (उत्तर-पूर्व) मे बहु-साल चैत्य था। उस नगर मे ऋषभदत्त ब्राह्मण और उसकी पत्नी देवानन्दा रहते थे। वे दोनो श्रमण-धर्म के उपासक थे। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार (26वे भव में महावीर का जीव प्राणत स्वर्ग का इन्द्र था) स्वर्ग से च्युत होकर तीर्थंकर महावीर का जीव 83 दिनो तक भ्रूण के रूप मे स्थित था। पश्चात् इन्द्र ने अपने सेनापति नागमेश द्वारा उस गर्भ को परिवर्तित करा क्षत्राणी के कुक्षि मे रखवा दिया। कारण जैन-तीर्थंकर केवल मात्र क्षत्राणि के गर्भ से जन्मते थे। (सम्भवत. इस गर्भ परिवर्तन की कथा पर श्रीकृष्ण कथा का प्रभाव है)।

वर्तमान में जन्म भूमि की मान्यता

दिगम्बर-परम्परा के लोग नालन्दा से प्राय: दो मील दूर स्थित कुण्डलपुर को तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि मानकर आज कई शताब्दी से पूज रहे हैं। यह कुण्डलपुर बिहार प्रान्त के पटना जिले मे स्थित है। पोस्ट आफिस और स्टेशन नालन्दा है। पास मे ही गुणावा, राजगृही, पावापुरी तीर्थ

है। यह कल्याण क्षेत्र ती० महावीर के गर्भ जन्म और तपकल्याणक की भूमि है। यहा पर वार्षिक जन्मोत्सव का मेला चैत्र शुक्ल 12 से 14 तक भरता है।

परन्तु श्वेताम्बर परम्परा इस कुण्डलपुर को तीर्थंकर महावीर की जन्म भूमि नही मानती। इसे वह ती० महावीर के गणधर इन्द्रभूति, अग्निभूत और वायुभूति का जन्मभूमि मानकर श्रद्धा करती है। उनकी मान्यतानुसार लक्खीसराय से 18 मील तथा नवादा स्टेशन स 32 मील दूर लिच्छुआड (लिछुआड) क्षत्रियकुण्ड (जिला मुगेर) ही ती० महावीर की जन्मभूमि है। उसके निकट के पहाड की तलेहटी का वन ज्ञातखण्ड वन है, यहीं कुमार वर्धमान ने दीक्षा ली थी। वहीं की वे यात्रा कर जन्मोत्सव व दीक्षोत्सव मनाते हैं।

(लिच्छुआड पूर्व बिहार मे 'ब्यूल' स्टेशन से पश्चिम मे 16 मील पर लक्खीसराय जक्शन से 18 मील पर है)।

यह एक कटु सत्य है कि तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि की शोध म जैन बन्धुओ ने घोर उदासीनता बरती। इस उदासीनता को दूर किया जैनेतर विद्वानो ने। उन लोगो ने 31 मार्च सन् 1945 म 'वैशाली सघ' नाम की सस्था सगठित की। प्रमुख सस्थापक बिहार सरकार के तत्कालीन शिक्षा-सचिव श्री जगदीशचन्द्र माथुर, डा योगेन्द्र मिश्र और श्री जगन्नाथ साहू आदि लोग थे। इन लोगो ने वैशाली कुण्डपुर के शोध म गहरी दिलचस्पी ली। और उस विषय के साहित्य का प्रकाशन और प्रचार किया।

हिन्दू जनता के सहयोग से वहा तीर्थंकर महावीर-स्कूल खुला। 21 अप्रैल 1948 को सघ के प्रयत्न से तीर्थंकर महावीर के जन्म भूमि-स्थल पर भगवान महावीर का जन्मोत्सव (जयन्ती) भारी धूम धाम स मनाया गया। इस जन्मोत्सव मे हजारो जथरिया भूमिहार (तीर्थंकर महावीर के वशज) सम्मिलित हुए। तब जैनो का ध्यान इस जन्मभूमि तीर्थ की ओर गया और अब वहा प्रत्येक वर्ष महावीर-जयन्ती उत्सव बिहार सरकार और सघ की ओर से सम्मिलित रूप मे मनाया जाता है।

वीर-निर्वाण-सवत 2478 (ई सन् 1951) म दिगम्बर जैन-समाज की ओर से वैशाली-कुण्डपुर-तीर्थ प्रबन्धक कमेटी स्थापित की गई, जो वहा की व्यवस्था कर रही है। कमेटी ने जैन बिहार के नाम से वहा एक धर्मशाला का भी निर्माण कराया है। धर्मशाला के निकट ही पर्यटन-विभाग का टूरिस्ट सेन्टर है।

जैन विहार से लगभग तीन कि मी दूर तीर्थंकर महावीर की जन्म भूमि है। वैशाली-कुण्डपुर तीर्थक्षेत्र-कमेटी ने इस जन्म भूमि के चारो ओर सीमा चिह्न लगाकर उसकी हदबन्दी करादी है। जन्म-भूमि-स्थल पर एक चौकोर कुण्ड बना कर उसमे पक्का (सीमेन्ट का) कमल-पुष्प निर्माण करा कर उस कमल पुष्प पर एक शिलापट्ट लगवा दिया है। शिलापट्ट पर एक ओर प्राकृत भाषा मे और एक ओर हिन्दी भाषा मे प्रशस्ति लिखी है। हिन्दी प्रशस्ति निम्नलिखित रूप मे है –

> जिन भगवान् महावीर को नमस्कार।
>
> सिद्धार्थ राजा और त्रिशलादेवी के पुत्र श्री वर्धमान जिनेश्वर ने विदेह प्रदेश के कुण्डपुर नगर मे चैत्र शुक्ला (13) त्रयोदशी को जन्म लिया था ॥1॥
>
> यही वह स्थान है, जहा अरहन्त भगवान वैशालिक महावीरजी ने जन्म लिया था, और यही उनके कुमार काल के तीस वर्ष व्यतीत हुये ॥2॥
>
> इसी स्थान से वैराग्य उत्पन्न होने पर उन्होने ज्ञातृ वन-खण्ड मे प्रवृज्या धारण की थी और

बहुत काल तक लोक में सत्य-अहिंसा धर्म का उपदेश दिया था ॥3॥

प्रवृज्या-काल से भी भगवान् ने अपने द्वादश वर्षावास वैशाली और वाणिज्य-(ग्राम) में व्यतीत किये थे ॥4॥

तभी से यह स्थल अहल्य मानकर श्रद्धा से पूजा जाता है। आज महावीर जन्मोत्सव के दिन इस भूमि के स्वामी ने उसे महावीर की स्मृति हेतु बिहार राज्य को प्रदान कर दिया ॥5॥

भगवान् महावीर के जन्म के 2555 (दो हजार पाच सौ पचपन) वर्ष व्यतीत होने पर तथा विक्रम संवत 2012 वर्ष व्यतीत होने पर, महावीर जन्मोत्सव के समय सुराज्यविधि प्रवीण, प्रसादगुण संयुक्त, धीर राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसादजी यहा पधारे और उन्होने विधिपूर्वक यहा पर इस महावीर स्मारक की यात्रा स्थापना की, जिससे वर्धमान भगवान् संस्मरण यावच्चन्द्र दिवाकर चिरस्थाई हो ॥6–8॥

इस शिलापट्ट का अनावरण भारतवर्ष के तत्कालीन महामहिम राजेन्द्रप्रसाद जी ने सन् 1956 मे महावीर जयन्ती के अवसर पर किया।

अनेक प्राचीन नगरो के साथ इस वैशाली (वैशालीय) का भी दीर्घकाल तक इतिहासज्ञो को (भी) अता-पता नहीं था। किन्तु विगत एक शताब्दी में पुरातत्व सम्बन्धी जो खोज हुई है, उसमे प्राचीन भग्नावशेषो, मुद्राओ व शिलालेखों आदि के आधार से प्राचीन वैशाली की शोध हो गई और निःसन्देह रूप से यह अब प्रमाणित हो गया है कि बिहार राज्य से गंगा के उत्तर मे मुजफ्फरपुर के अन्तर्गत बसाढ नामक ग्राम ही प्राचीन वैशाली है।

स्थानीय शोध खोज से यह भी सिद्ध हो गया कि वर्तमान बसाढ़ के निकट ही जो वासुकुण्ड के चिह्न पाये जाते है, और जो क्षत्रियकुण्ड कहलाता रहा होगा. उसी के समीप एक ऐसा भी भूमि-खण्ड पाया गया जो अहल्य रहा, उस पर कभी हल नही चलाया गया। वहा की स्थानीय जनता यह सदा से मानती रही थी कि वह भूमि एक अति प्राचीन महापुरुष का जन्म-स्थल है। इसलिए उस भूमि को पवित्र मानकर वहा की जनता दीपावली के दिन अर्थात् ती० महावीर के निर्वाण-दिवस पर दीपक प्रज्जवलित कर अपनी श्रद्धा-सुमन अर्पित करती आ रही थी। इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार कर पुरातत्व और इतिहासकारो ने उसे तीर्थंकर महावीर की जन्म-भूमि स्वीकार कर लिया और बिहार सरकार ने भी उस स्थल को अपने अधिकार मे कर भगवान महावीर के स्मारक की घोषणा कर दी।

वैशाली नाम कुण्डे-कुमारात्माधिकरण (स्य) गाथा लिखी एक मुद्रा गुप्त कालीन मिली है– उपर्युक्त कुण्ड शब्द स्पष्टतया क्षत्रियकुण्ड मे सम्बन्धित था, क्योंकि इस प्रकार का दूसरा कुण्ड उस क्षेत्र मे नही है।

(A S I R For 1913-14; Plate xivii (with an account on P. 134; Seal No. 200) An Early History of Vaishali by Pt. Yogendra Mishra P. 224) On A Vaishali seal belonging to the Gupta Period the legand reads — Vesalissamakunde Kumaramatyadhikarana. This Kunda is clearly related to kshatriyakunda' (SYA) because no other Kunda in the area is otherwise known.)

कुलजाक्षाग (पटना) मे गंगातट पर बसा महेन्द्र घाट प्रायः छ (6) किलो मीटर दूर है। इस घाट से पहलेजा घाट के लिए नियमित स्टीमर सर्विस है। यहां से पहलेजा घाट 11 कि. मी दूर

है। पहलेजा घाट से लगभग दो फर्लांग दूर बस स्टण्ड और रेलवे स्टेशन है। यहा से हाजीपुर के लिए बस सर्विस है। टक्सी और बस जैन विहार के सामने ठहरती है। जैन विहार सडक की बाई ओर है। बगल मे ही पर्यटन केन्द्र और रेस्ट हाउस है।

ती महावीर के स्मारक के निकट ही पूर्वोक्त प्राचीन क्षत्रिय कुण्ड की तटवर्ती भूमि पर साहू श्रेयास प्रसाद जैन के दान से एक भव्य भवन निर्माण कराके उसमे विहार राज्य शासन द्वारा प्राकृत-जैन शोध-सस्थान चलाया जा रहा है। यह सस्थान सन् 1956 मे डॉ हीरालाल जैन के निर्देशन मे मुजफ्फरपुर मे प्रारम्भ किया गया था। उन्ही के द्वारा वैसाली मे महावीर स्मारक स्थापित कराया गया तथा शोध-सस्थान के भवन निर्माण-काय भी प्रारम्भ कराया गया था।

विहार प्रदेश (पटना जिले) का नालन्दा के निकट वाले कुण्डलपुर और श्वेताम्बरो द्वारा मान्यता प्राप्त लच्छुग्राड नामक ग्राम का क्षत्रिय कुण्ड दोनो ही शास्त्रो मे वर्णन के अनुसार तीर्थंकर महावीर की जन्मभूमि नही ठहरते। ये दोनो स्थान गगा नदी के उत्तर प्रदेश मे न होकर गगा के दक्षिण मे मगध देश के अन्तगत आते हैं। ये दोनो स्थल प्राचीन लेखो के निर्देशन के विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकते। वतमान मान्यता मे चल रही ये दोनो जन्मभूमिया प्राचीन नहीं अर्वाचीन हैं।

★

ठठेरी बाजार, बसन्ती कटरा
वाराणसी-221001



सरस्वती वैमानिक देवी है

□ आचार्य गोपीलाल अमर

सरस्वती का निकाय : एक समस्या

जैन कला, स्थापत्य और साहित्य में ऐसे अनेक देवों और देवियों की बार-बार प्रस्तुति होती है जिनकी गणना प्रथम, द्वितीय शताब्दी ईस्वी के ग्रन्थों तिलोयपण्णत्ती और तत्त्वार्थाधिगम सूत्र और उसकी टीकाओं तथा ऐसे ही अन्य जैन ग्रन्थों में एक बार भी नहीं की गयी। सरस्वती उन देव-देवियों में से एक है।

ऐसे देवों और देवियों का समावेश जैन परम्परा के देव-देवियों के चार निकायों, वैमानिक भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क में से किस निकाय में किया जाए, यह एक समस्या है। इसके समाधान में यह अध्ययन, एक परिकल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इस पर जैन विद्याओं के अध्येताओं की समीक्षा सादर आमन्त्रित है (अमरावती, सी 2/57, भजनपुरा, दिल्ली-110053) जिसका उपयोग लेखक द्वारा अपनी पुस्तक 'सरस्वती इन जैन आर्ट एण्ड लिटरेचर' में समुचित सन्दर्भ के साथ किया जाएगा।

इस समस्या की वास्तविकता

कुछ विद्वान् इस समस्या से कतराते हुए-से, कहते हैं कि सरस्वती जिन-वाणी की प्रतीक है, बस, उसका किसी निकाय में समावेश अनावश्यक है। किन्तु, यदि वे उसे एक देवी मानते हैं और यदि वे उसे जिन-वाणी से सम्बद्ध करते हैं तो वे उसे निकाय-बाह्य कहकर यों ही नहीं छोड़ सकते।

सरस्वती एक देवी है, देवगति की एक प्राणी है, इसके प्रमाण हैं ईस्वी पूर्व तीसरी और दूसरी शताब्दी से लिखे जाते रहे सैकड़ों ग्रन्थ, पचासों स्तोत्र, दूसरी शताब्दी ईस्वी से बनती आ रही सैकडों मूर्तियां और दसवीं शताब्दी से अंकित होते आ रहे दसों चित्र, जिनमें उसकी चर्चा है, उसका मूल्यांकन है और उसकी उपासना।

उसका किसी निकाय में समावेश वास्तव में अनिवार्य है, क्योंकि ये चारों निकाय इतने सुगठित और परिपूर्ण हैं कि उनके रहते पांचवां निकाय बन ही नहीं सकता जिसमें फुटकर या निकाय-बाह्य कहे जाने वाले देव-देवियों का समावेश किया जा सके। फिर, तीर्थंकरों शासन-देवताओं तथा ऐसे ही अन्य देव-देवियों का समावेश यदि किसी-न-किसी निकाय में किया जाता रहा है तो सरस्वती का समावेश भी किया ही जाना चाहिए।

समावेश की इस अनिवार्यता के निषेध का अर्थ होगा यह स्वीकृति कि सरस्वती और ऐसे ही अन्य देव और देवियां जैन मूल के नहीं हैं, जबकि कम-से-कम सरस्वती के जैन मूल की होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। इसलिए उसका समावेश वैमानिक, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क में से किसी एक निकाय में करना ही होगा।

सरस्वती भवनवासिनी नहीं है

भवनवासी अर्थात अकृत्रिम भवनो मे वास करने वाले देव है असुर, नाग, विद्युत्, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्। इनमे से प्रत्येक नाम का दूसरा भाग है कुमार जो यथानाम–तथागुण हैं। इनमे कुछ अन्य देव-देवियो का समावेश हो सकता है, परन्तु सरस्वती का किसी म भी नही।

जैन विद्याओ के कुछ पारम्परिक विद्वान् कहते है कि सरस्वती तो है ही भवनवासी, उसका समावेश किसी अन्य निकाय मे किया ही नही जा सकता। किन्तु यह कथन कोरी पारम्परिक धारणा पर आधारित है, किसी शास्त्रीय उल्लेख पर नही। इसके विपरीत उसके भवनवासी निकाय मे समावेश के प्रतिकूल और वैमानिक निकाय मे समावेश के अनुकूल प्रमाण अवश्य है।

श्री, ह्री आदि देवियो मे सरस्वती नहीं

भवनवासी निकाय मे उपयुक्त दम के अतिरिक्त कुछ देव देविया और हैं। उनमे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक देविया भी हैं जिनका उल्लेख सहित्य मे जगह-जगह मिलता है।

जम्बू-द्वीप के छह कुल–पर्वतो मे से प्रत्येक पर एक-एक विशाल सरोवर है जिसके मध्य मे विशाल कमलाकार भवन मे इन छहो मे से एक-एक देवी का वास है।

धातकी खण्ड और पुष्कराध द्वीपो मे यह व्यवस्था द्विगुणित है, अत उनमे दो-दो ह्री आदि देवियो का वास है। इस प्रकार पाच श्री, पाच ह्री और पाच-पाच शेष, अर्थात् तीस देविया हुई, किन्तु उनमे सरस्वती का समावेश नही हो सकता।

सरस्वती बुद्धि से भिन्न है

इन छह मे से बुद्धि के कमलाकार भवन का नाम है महापुण्डरीक। इस शब्द का अर्थ है विशाल कमल। बुद्धि शब्द का अर्थ है प्रतिभा, ज्ञान। इन दोनो शब्दो के अर्थ पकडकर सरस्वती को बुद्धि देवी से अभिन्न मानने का जी हो सकता है, पर ऐसा होना नही चाहिए, क्योकि कुछ शास्त्रो म श्री आदि देवियो के नामो मे कीर्ति का नाम नही मिलता और छठवें स्थान पर सरस्वती का नाम मिलता है। यदि बुद्धि और सरस्वती अभिन्न होती तो दोनो का नाम एक साथ नहीं आना चाहिए था। और फिर, ये कुछ शास्त्र उत्तर-कालीन होने से उतने मान्य नही है जितने वे जिनमे कीर्ति का नाम है और सरस्वती का नही है और जो पहली या दूसरी शताब्दी की रचाएँ होने से मान्यता मे प्राथमिकता पाते ह।

सरस्वती को बुद्धि से अभिन्न मानने मे एक बाधा और है कि इन श्री आदि को कही-कही दिक्-कुमारिकाओ की सज्ञा दी गयी है, जबकि सरस्वती का दिक्-कुमारिका के रूप म कही कोई उल्लेख नही है।

सरस्वती व्यन्तर नहीं है

व्यन्तर नाम का दूसरा निकाय है। उसके किनर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष राक्षस, भूत और पिशाच नामक आठ वर्गों मे कुछ अन्य देव देवियो का समावेश हो सकना है, पर सरस्वती का नही।

व्यन्तर देव खाना-ब-दोशो की भाति भ्रमण-शील होते हैं। वे जब-तब, अपने नाम के अनुरूप, जहा अन्तर (वि+अन्तर) या छोटी मोटी जगह मिली वही टिक जाते है। सरस्वती के खाना-ब दोश होने का कोई प्रमाण नही।

सरस्वती किनरी नहीं है

मूर्त्यंकन म सरस्वती के हाथ मे वीणा भी दिखायी जा सकती है, जो वाद्ययन्त्रो मे प्रमुख

है। उक्त आठ वर्गो में से किन्नर वाद्य-वादक माने जाते है, इसलिए सरस्वती को किनरी मानने का तर्क दिया जा सकता है। यह तर्क व्यर्थ होगा क्योकि किसी भी किंनर या किंनरी के जिन-वाणी का प्रतीक होने का उल्लेख कही भी नही मिलता, जबकि सरस्वती तो वह है ही।

इसमे अतिरिक्त, देवों की जैन सूचियों में किंनरो की गणना आरम्भ से ही है जबकि सरस्वती के साथ वीणा की प्रस्तुति उसके बहुत बाद, नवमी-दसवी शताब्दी मे, आरम्भ हुई; वह भी कभी अनिवार्य नही हो सकी। इसके भी अतिरिक्त जैन परम्परा मे यह आवश्यक नही कि किंनर किनरिया वाद्यवादक हो ही।

विद्या देवियों की भांति सरस्वती व्यन्तर नहीं है

अड़तालीस हजार विद्यादेवियों और उनकी सोलह प्रमुख विद्यादेवियो या महाविद्याओ की प्रमुख है सरस्वती। विद्यादेवियो का समावेश महोरग, गन्धर्व भूत, पिशाच आदि व्यन्तरो मे होता है तो भी सरस्वती उनमे समाविष्ट नही हो सकती, क्योकि वह ऐसे कामो मे पडती हुई कभी नही दिखी जैसे व्यन्तर किया करते है और जिनके कारण उन्हे परम अधार्मिक होने का विशेषण तक दिया गया।

सरस्वती का समावेश एक निकाय मे और यह जिनकी प्रमुख है उन विद्यादेवियो का समावेश दूसरे निकाय मे होने मे कोई बाधा नहीं है, क्योकि इस प्रकार के उदाहरण शास्त्रो मे मिलते हैं। फिर, विद्यादेविया सरस्वती के निकाय के निर्धारण मे तर्क नहीं बनायी जा सकती क्योंकि उनकी मान्यता जैन परम्परा मे सरस्वती से बहुत बाद की है; बल्कि जैन परम्परा मे उनकी मौलिकता भी सदिग्ध है, जबकि सरस्वती की मान्यता असदिग्ध है।

देवगढ़ की सरस्वती-मूर्ति का तर्क अमान्य है

उत्तर प्रदेश मे ललितपुर जिले के 'देवगढ में (पाचवी शताब्दी ई.) एक मूर्त्यंकन मे सरस्वती खडी हुई दाहिने हाथ मे चौरी लिये है और बांया हाथ बायी जाघ पर रखे है। उसके दोनो ओर के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि वह (चौथे) तीर्थंकर अभिनन्दन की यक्षी के रूप में प्रतिष्ठित थी।'

इस कथन के आधार पर सरस्वती को यक्षी अर्थात् व्यन्तर निकाय की देवी कहना अनुचित होगा क्योकि इस कथन मे कही कोई भ्रान्ति अवश्य है। उदाहरण के लिए, यह मूर्ति पांचवी शताब्दी ईस्वी की कदापि नही हो सकती, नौवीं शताब्दी से पूर्व की नही।

इस मूर्ति मे ऐसा कोई लक्षण नही है जिससे उसे सरस्वती कहा जा सके। उसके हाथ मे चौरी या चामर कभी नही दिखाया जाता। रही शिलालेख की बात सो वह इतना अस्पष्ट है कि उसे फिर से, बहुत सावधान होकर पढ़ने की आवश्यकता है।

देवगढ़ की अन्य सरस्वती-मूर्ति का तर्क अमान्य है

इसी प्रकार 'देवगढ़ लगभग 1070 ईस्वी के अभिलेख मे अंकित सरस्वती भी यक्षिणी के रूप में पूजी जाती थी।' यह कथन भी सरस्वती को यक्षी सिद्ध नही करता, क्योकि इस अभिलेख मे यक्षिणी या यक्षी शब्द का किसी भी रूप मे कोई उल्लेख नही है जबकि सरस्वती शब्द उसमे स्पष्ट रूप से अंकित है।

ब्रिटिश म्यूजियम की कांस्य-सरस्वती का तर्क अमान्य है

लन्दन में ब्रिटिश म्यूजियम मे विद्यमान

तथाकथित कास्य-सरस्वती पर जो देवनागरी लिपि मे अभिलेख है उसमे लिखा है कि वह छठवें तीर्थंकर पद्मप्रभ की सरक्षिका है।

इससे यह तो माना जा सकता है कि सरस्वती का एक काम सरक्षण भी था, किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह यक्षी है क्योकि तीर्थंकरो की चौबीस यक्षियो की किसी भी सूची मे उसका नाम नही मिलता, और पद्मप्रभ की यक्षी का नाम दिगम्बर परम्परा मे मनोवेगा है और श्वेताम्बर परम्परा मे श्यामा।

इसके अतिरिक्त, इस कास्य मूर्ति को कुछ विद्वानो ने फिर से परख कर अम्बिका माना है जो बाइसवे तीर्थंकर नेमिनाथ की यक्षी है। इससे स्पष्ट है कि व्यन्तर निकाय के यक्ष वर्ग मे सरस्वती का समावेश सम्भव नहीं है।

सरस्वती तीर्थंकर महावीर की यक्षी नहीं है

कुछ विद्वान एक-दो तर्क देकर कहते है कि सरस्वती अन्तिम तीर्थंकर महावीर की यक्षी थी, नौवी शताब्दी के अन्त और दसवी के आरम्भ मे।

उनका एक तर्क यह हो सकता है कि चार ग्रन्थो मे सरस्वती का वाहन सिंह बताया गया है और यही वाहन सिद्धायिका या सिद्धायिनी का है जो महावीर की यक्षी है और महावीर का लाछन भी सिंह ही है। यह तर्क स्पष्ट रूप से नितान्त अपर्याप्त है।

कहते है, सरस्वती की चर्चा महावीर के सन्दर्भ मे बहुत मिलती है। यह भी कोई तर्क नही क्योकि उसकी इस तरह की चर्चा तो प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ, नौवें पुष्पदन्त, बीसवें मुनिसुव्रत और तेइसवें पार्श्वनाथ के सन्दर्भ मे भी कई बार आती है। इतने भर से वह इनमे से किसी की भी यक्षी नही कही जा सकती।

सरस्वती का सम्बन्ध महावीर से स्थापित अवश्य किया जा सकता है क्योंकि वह जिन जिन वाणी की प्रतीक है उसका निकटतम अतीत मे उद्गम अन्तिम तीर्थंकर महावीर से हुआ है।

सरस्वती कभी भी यक्षी नहीं रही

वास्तविकता तो यह है कि सरस्वती कभी भी यक्षी के रूप मे प्रस्तुत नही की गयी, और न ही उसकी गणना यक्षियो की चौबीसी या किसी अन्य वर्ग मे की गयी।

इसीलिए यह कथन अनावश्यक हो जाता है कि 'विद्या की देवी सरस्वती से यक्षिणी सरस्वती का कुछ भी लेना-देना नही है और यक्षिणी के रूप सरस्वती की परम्परा बहुत थोडे समय का धर्मा और मध्य भारत तक ही सीमित रही'।

सरस्वती ज्योतिष्क नहीं है

देवो का तीसरा निकाय ज्योतिष्को का है। वे सभी निरन्तर मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। उनके पाच वर्ग हैं, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और विभिन्न तारे। ग्रहो मे बुध, शुक्र गुरु मगल और शनि की गणना है। इनमें से किसी का भी लक्षण सरस्वती मे नही है।

बृहस्पति या गुरु ग्रह से उसका सम्बन्ध अवश्य है, पर इससे कोई अन्तर नही पडता क्योकि यह सम्बन्ध केवल सास्कृतिक और साहित्यिक ही है, गणित ज्योतिष की दृष्टि से नही। जैन परम्परा मे इस प्रकार का सम्बन्ध वैसे भी किसी का किसी से नही हो सकता।

सरस्वती वैमानिक है

देवो का चतुर्थ प्रकारान्तर से प्रथम, निकाय वैमानिक है। उनके उन्तालीस विमान या स्वर्ग हैं जिनमे पाचवें का नाम है ब्रह्म या ब्रह्मलोक। कल्प अर्थात् नीचे के सोलह, विमानो मे सर्वश्रेष्ठ

ब्रह्मलोक का वैदिक परम्परा के जगत्कर्ता ब्रह्मा से कोई सम्बन्ध नही है ।

ब्रह्मलोक की चारो दिशाओ और चारो उपदिशाओ मे देवो का एक-एक समूह रहता है और प्रति दो समूहों के मध्य दो-दो छोटे समूह रहते हैं । जो उन समूहो मे जन्म लेते है वे लौकान्तिक कहे जाते हैं । इनमे से प्रथम समूह का नाम है सारस्वत जो उत्तर-पूर्व कोण अर्थात् ईशान-उपदिशा में रहता है ।

सरस्वती सारस्वत लौकान्तिक है

लौकान्तिक देवो के और सरस्वती के लक्षणो मे पारस्परिक समानता है जिससे सिद्ध होता है कि सरस्वती एक लौकान्तिक देवी है । उसके प्रतिमा-विज्ञान और प्रतीक-विज्ञान मे भी इस तथ्य की पुष्टि होती है ।

सभी लौकान्तिक सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र है क्योकि उनमें परस्पर असमानता नहीं है । यथार्थ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन के सुफल से कृतकृत्य हुए वे देव निरन्तर सम्यग्ज्ञान के उपार्जन में तन्मय रहते है । ये देवर्षि कहे जाते है क्योकि उनकी इन्द्रिय-सुख की लालसा समाप्त हो चुकी होती है, इसी लिए अन्य देव उनकी वन्दना करते हैं ।

जिन वाणी के बारहवे पूर्व नामक अग के चौदहो अध्यायो के वे पारगत होते है वे लौकिक गमनागमन मे समय नही लगाते, केवल उस समय तीर्थंकर सेवा मे जाते है जब वह दीक्षा ले रहा होता है । उनकी विचारधारा इतनी निर्मल होती है कि उसे शुक्ल लेश्या की संज्ञा दी गयी है । ये सभी विशेषताएँ सरस्वती में भी स्वभावत: है ।

इसमे सन्देह नहीं है कि लौकान्त्रिक देव ब्रह्मचारी होते है और उनमे से एक होने के कारण सरस्वती भी ब्रह्मचारिणी मानी जाएगी, फिर भी उनके इस सम्बन्ध मे कोई बाधा नही आती और न ही शास्त्रो में उनके इस सम्बन्ध का कोई निषेध है । इस संदर्भ में यह पारंपारिक धारणा उल्लेखनीय है जिसके अनुसार दूसरे विमान से ऊपर के विमानों मे पत्नी की तरह की देवियां नही होती । इस धारणा से सरस्वती के लौकान्तिक देवी होने मे बाधा नही पडती क्योकि यहां यह नही कहा जा रहा है कि वह किसी लौकान्तिक की पत्नी है, केवल यह कहा जा रहा कि वह उनके सारस्वत नामक समूह की एक प्रमुख सहकर्मिणी या सदस्या है ।

इसी प्रकार की एक धारणा और भी दिखायी पडती है कि सरस्वती पांचवे विमान, ब्रह्मलोक की देवी नही हो सकती क्योकि दूसरे से ऊपर के विमानो मे देवियो का उपपाद अर्थात् जन्म नही होता । इस तथाकथित धारणा का कोई शास्त्रीय आधार नही है, फिर भी उसे मान ले तो भी वह बाधक नही बनेगी क्योकि उससे सरस्वती के लौकान्तिको के साथ सात्त्विक या धार्मिक सम्बन्ध का निषेद नही होता । बल्कि निरन्तर तत्त्व-चर्चा में सलग्न रहने वाले उन लौकान्त्रिक देवो को सरस्वती जैसी उच्च कोटि की तत्त्वज्ञ की आवश्यकता होनी स्वाभाविक है जो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के विवेक का प्रतिपादन कर सके ।

सरस्वती और ब्रह्मलोक

जिस स्वर्ग मे लौकान्तिको के विमान अवस्थित हैं उसका नाम है ब्रह्म या ब्रह्मलोक और सरस्वती का एक पर्यायवाची नाम ब्राह्मी भी है, और वैदिक साहित्य मे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध ब्रह्मा से माना गया है जिसे देवर्षि भी कहा जाता है, यह एक ऐसा संयोग है जिसे विचारणीय मानना ही पड़ेगा । इस संयोग से और कुछ हो या न हो, सरस्वती का समावेश वैमानिक निकाय के लौकान्तिक देवो के अन्तर्गत अवश्य सपुष्ट होता है । इसके अतिरिक्त उसके प्रतीक-विज्ञान और प्रतिमा विज्ञान मे वर्णित लक्षणों तथा अन्य विशेषताओ के विश्लेषण मे यह परिकल्पना और भी सपुष्ट होती है कि वह वैमानिक निकाय की ही देवी है, किसी अन्य निकाय की नही । 

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

थुवैन हनुमान और मुनि युगल

□ शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी
सहायक निदेशक, राज्य
संग्रहालय लखनऊ



थुवैन या थुवनजी का इतिहास अति प्राचीन है। जन कला व सस्कृति के लब्ध प्रतीष्ठित विद्वान डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने इन पंक्तियों के लेखक को बतलाया कि थुवनजी कहीं थुवन अर्थात् स्तूपवन से गल तो नहीं जाता है। ध्वनि एवं बोली से ऐसा सभव है कि वहां पर तमाम स्तूप रहे हो, इसके आधार पर इसे स्तूपवन कहा जाता होगा जो कालान्तर मे आज थूवनजी या थुवैन के रूप में जाना जाता है।

उक्त स्थल को दिनाक २७ ६ ८१ को उत्तरांचल दिगम्बर तीर्थ क्षेत्र कमेटी के सौजन्य से मुझे देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। मेरे साथ श्री अजित प्रसाद जैन, यात्री प्रसाद जैन व विदिशा के पुरातत्व अन्वेषक श्री राजमल मणवैया जी भी थे। यहा पर केन्द्रीय पुरातत्व सर्वेक्षण के कन्जरवेशन असिस्टेन्ट श्री एम० एन० श्रीवास्तव ने यत्र तत्र बिखरी १६८० कलाकृतियों को बीन कर एक स्थल पर एकत्रित कर दिया है। इनमें कमर मे कटार धारे हनुमान, उमालिंगन मूर्ति तथा थोडी दूर पर दीर्घकाय विष्णु प्रतिमाए उल्लेखनीय है। इसी से लगभग एक मील की दूरी पर पच्चीस जैन मंदिरों की माला सी है। इसी के मंदिर सख्यक पाच की बाहर की ओर कुछ ब्राह्मण धर्म की मूर्तियां चिनी हुई हैं। इन मंदिरों में ही मन्दिर सख्यक ८ में एक चतुर्भुजी मूर्ति है जिसे वहा पर क्षेत्रपाल मंदिर लिखा गया है। यह चतुर्भुजी प्रतिमा अपने पैरों के नीचे राक्षस को दबाए है। ऊपर के बाये हाथ मे गोल वस्तु लिये हैं दूसरा बाया हाथ वक्षस्थल पर है। दाया एक हाथ नीचे को लटक रहा है तथा दूसरा दाया हाथ सर पर रखे हुये है। यहां हनुमानजी को एकावली, कंगन, भुजबंध पहन अंकित किया गया है। पीछे परिकर पर बेल बनी हुई है तथा दायीं ओर तथा बायीं ओर एक एक विवस्त्र कायोत्सर्ग में मुनि दर्शाये

गये है। सामान्यतता हनुमान को कपिमुख बनाया जाता है किन्तु यहां पर ऐसा नहीं है। उक्त प्रतिमा ककरीले प्रस्तर की है जो लगभग 10 वी शताब्दी की हो सकती है। वैसे पुरामनीषी कृष्णदेवजी ने इस प्रकार के अकन का लगभग १२ वी शती का होना मुझे पत्र द्वारा सूचित किया था।

थूबोन स्थित एक हनुमानजी की मूर्ति मे हनुमानजी को दो दिगम्बर नग्न मुनियो को जिनको उनके पिछले जन्म के शत्रु ने प्रचण्ड अग्नि मे फेक दिया था, अपनी विद्यावल से दहकती हुई आग से निकाल कर आकाश मे ले जाते हुए दिखाया गया है।[1]

इस प्रतिमा मे अकित मुनियुगलों व हनुमान के सन्दर्भ हमे जैन साहित्य के 'पउमचरियम्'[2] के पर्व 51 के श्लोक 1 से 7 तक मे मिलता है जिनका अनुवाद पूज्य पुण्य विजय जी ने इस प्रकार किया : "हनुमान जी आकाश मार्ग से जब लंका जा रहे थे, मार्ग में उत्तम रत्नों से देदीप्यमान दंधिमुख-द्वीप आया। उस सुन्दर द्वीप मे हजारो भवनों से व्याप्त और वन उपवनों से मंडित प्रदेशवाला दधिमुख नाम का नगर था। उस नगर के समीप आये हुए नानाविध वृक्षो से सकीर्ण प्रदेश मे नीचे हाथ लटकाये हुए दो मुनियो को हनुमान ने देखा। उन मुनियो से चौथाई कोस पर तीन कन्याए विद्या साधना के लिए घोर तप कर रही थी। कन्याओ के साथ योगस्थ उन मुनियों को जगल की दावाग्नि से जलते देखा हनुमान को दया आ गई। उसने विद्या के प्रभाव से बादल की भाति सागर का जल खीचकर मुसल जैसी धाराओ से मुनियों के ऊपर वर्षा की 'पानी की उस बाढ से सारी आग शान्त हो गई। देवो ने मुनिवरो के ऊपर पुष्पों की वर्षा की।"[3]

उक्त ग्रंथ को विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन ने प्रथम शती ईसवी का तथा अन्य अन्य विद्वानो ने इसे चौथी या पाचवी शती का माना है। इस ग्रंथ के अलावा पद्मपुराण जिसे रविसेन ने लिखा है मे भी इसका वर्णन है।[4]

---

1. जैन, दिगम्बरदास, भगवान महावीर जयन्ती स्मारिका वर्ष 1971 खण्ड 2 बुन्देल खण्ड का इतिहास एवं जैन पुरातत्व पृ० 120।

2. अहतस्सनहयलेणवच्चन्तस्सउन्तरे तनुजाउ । वररमण पडन्तो, दीवोच्चियदहिमुहोनाम ॥ अह तम्मिपवरदीवे, अस्थिपुरं दहिमुहं तिनामेण । भवणसहस्साइरम, काणणवण- मणिमउद्देस तस्सपुरस्सासन्ने, नाणाविहकरकसक मुद्देसे । हत्थविलम्बियभुय, दिट्ठ हणु- वेणमुनियुगल कोसस्स चउब्भागे, मुणिवरवसभाणतिणिकन्नाउ । अहतंमुणिवरजुयन, जोग- त्थवणदवग्गिमज्झन्त कन्नाहिसमंदट्ठ, पच्छल्लकुण हहणुवन्तो । आयड्ढिऊनुसाणतो, सायरसलिलंधणोत्वाविज्जाए । वरिसइ मुणीण उवरि मुसलयमाणुधारासु ॥ सोहुयवहा असेसो, अवहरिउ तेणसलिपूरेण । मुञ्चन्ति कुसुमवास, देवउवरि मुनिवराण। पर्व ५१, श्लोक १ से ७ तक. पृ० १०६
लेखक · विमल सूरि।

3. पउमचरियम् अनुवादक पुण्यविजय पृ. १६८।

4. साधूग्निर्गमवने द्वीपे दधिमुखाह्वये। सर्वं कन्यकान्विताः पद्मस्याग्नमुमोचिता। पद्मपुराण, सर्ग ५३, श्लोक २२३

इसके अतिरिक्त जैन-ग्रंथ त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र के पदम चरित्रमूलजैन रामायण मे जिसकी मुनि श्री अभ्युदयसागर जी ने व्याख्या की है, इसका कथानक इस प्रकार है

व्योम्नायहनुमान गच्छनद्वीपे दधिमुखोमिधे।
कायोत्सगतस्थिवासौप्रेक्षाचक्रे महामुनी।
तयोरनतिदूरेचापश्यस्त्रि कुमारिका।
ध्यानस्थ निमद्याङ्गीविद्यासाधनतत्परा॥
दयागलस्तदाद्वीपे प्रजज्वालाग्निलेऽपिहि।
तौक्षायूता कुमायश्चनिपेतुदवसङ्कमे
तद्वात्सल्यन हनुमान विद्ययादायसागरात।
तदवाग्निमेघइवशमया मासवारिभि॥
तदैव सिद्ध विद्यास्ता कन्यास्थितौतुनौ।
मुनिप्रदक्षिणीकृत्य हनुमन्त बभापिरे॥
त्रि० श० पर्व ७ सग 6, श्लोक २५३ से २५७

अजित ब्रह्म का "हनुमान चरित" व "रजरग बली हनुमान" भी उल्लेख योग्य जैन-ग्रंथ है। ब्रह्मराय के "हनुमानचरित" मे

देस्योवष्ट ऋषी द्वयतनो, जलसमुद्रतेलायोघनी।
अग्निज्वाल का दई कुमाय, भाव शुद्ध कर वदे पाय॥
क्रियाविनय बैठो निहठांय, मनवचकाय भक्तिमहुपाय।
घड़ी एक लीनो विश्राम,नमस्कार कर चलोहनुमान॥
पृ० ६१

इसके अतिरिक्त १९ वीं शताब्दी के महाकवि श्री वृन्दावनदास विरचित सकटहरण बीनती म भी इस प्रकार वणन है

जब राम ने हनुमन्त को गढ लक पठाया,
सीता खबर लेने को सहसैन्य सिधाया।
मग बीच दो मुनिजन की लख आग मे काया।
झटवार मूसलधार से उपसग बचाया॥

इन जैन निदर्शनो के अतिरिक्त राम भक्तो के सुप्रसिद्ध "हनुमान चालीसा" मे भी

साधु सन्त के तुम रखवारे,
असुरनिकन्दन राम दुलारे।

जहा तक दशरथ जातक "बौद्ध रामायण" का प्रश्न है इस सन्दर्भ मे बौद्ध कला एव साहित्य के निष्णात विद्वान प्रो० सी० डी० चटर्जी से मैंने इस विषय मे जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने बताया कि राम, लक्ष्मण, सीता व दशरथ आदि तो हैं किन्तु बौद्ध रामायण मे रावण व हनुमान का कोई उल्लेख नही है। अस्तु उपरोक्त जैन-साहित्य मे विपुलता से हनुमान के उपसर्ग निवारण के वर्णन का तथा उसी के अनुरूप मूर्तिकरण की दृष्टि से यह अनुपम कृति है।

नोट १ उक्त लेख के सन्दर्भ मे पाठको से विनम्र निवेदन है कि यदि उन्हें कही हनुमान व मुनियुगलो सहित कोई कृति ज्ञात हो तो उसे लेखक को अवगत करानेकी कृपा करें।

२ इस लेख को तैयार करने के लिए लेखक तीर्थंकर महावीर शोध स्मृति केन्द्र, मुन्नालाल कागजी धर्मशाला, चार बाग व अखिल भारतीय संस्कृत परिषद लखनऊ के सहयोगियो का आभार स्वीकार करता है।

चतुर्थ खण्ड

नये प्रयास एवं काव्य

भो णायपुत्त !

डॉ० उदयचन्द्र जैन
पिक कुन्ज 3, अरविन्दनगर,
उदयपुर (राज०) 313001

भो णायपुत्त !
तिसला णंदण
तिहुवण जणअहिवंदिद !
तुज्झ णमो !
तव चलणकमलेसु
णम्मीभूआ जणा
आगम-कुसला
सिद्धंत-सायरा होन्ति
स-पर-अप्प-भेय-विण्णाणं वि
तव पहम्मि
अवस्सं ।
मुणीजण-णाणी
संसार-असारं
देह-विणस्सरं
सुहं दुहं वि
जाणंति ।
अप्प-सुद्धि-हेदुं
अप्पाणो पडिऊलाणि
परेसिं
ण समाचरेदु
अप्पवद-सव्वभदेसुं
पस्सेदु,
सत्तेसुं मित्ती
गुणीसुं पमोदं
किलिट्ठेसु जीवेसुं
कियावरत्तं वि
तव पहें पवट्टिणो एव अत्थि ।

जय महावीर !

(खूबचन्द्र "पुष्कल" सोहोरा)

युग युगों से गूंजता जो दिव्य जीवन गान ।
जो हजारो वर्ष से है आज भी द्युतिमान ।।
दिव्य तेजस्वी तपस्वी बालयति मतिमान ।
वीर ! सन्मति ! ! तीर्थंकर वे वर्धमान महान ।।1।।
लेखनी मे कहा बल जो लिखे, उनके गीत ।
दिया जीवन भर जिन्होने लोक हित संगीत ।।
कौन उनसा कहा होगा वीतराग पुनीत ।
विश्व का कल्याण कर्ता विश्व विषयातीत ।।2।।
आज भी मंगल गिरा नित गूंजती चहु ओर ।
वीर वाणी से समुज्वल स्व स्वभाव विभोर ।।
वीर जय महावीर जय का निरन्तर जय घोष ।
पा रहा हर प्राण प्रति पल शान्ति सुख सन्तोष ।।3।।
धन्य त्रिशला मा प्रसविनी, धन्य पितु सिद्धार्थ ।
कुण्ड ग्राम विहार का प्रिय धन्य पावा साथ ।।
धन्य वह युग जब अंधेरे मे उजाला दिव्य ।
सत्य अहिंसा धर्म का आलोक छाया भव्य ।।4।।
उसी युग से हो चुके अब वर्ष ढाई हजार ।
आज फिर हिंसा, तमिस्रा का गहन चीत्कार ।।
वीर के अनुयायियो ! अब बांट दो प्रिय प्यार ।
शुष्क नीरस मरुस्थल मे सींच दो रसधार ।।5।।
भेद भाव विभाव छोडो, हरो जग के कष्ट ।
जियो जीने दो जगत को बनो सब को इष्ट ।।
सत्य शिव सुन्दर सभी हो सत्य अहिंसा धर्म ।
वीर पथ संचालको का शान्तिमय सत्कर्म ।।6।।
यह जयन्ती पर्व सुखमय हर महोत्सव वर्ष ।
विश्व भर मे भरे निशदिन शान्ति समता हर्ष ।।
भावना है दूर हो सब जगत के संघर्ष ।
साम्य जन जीवन बने हो विश्व का उत्कर्ष ।।7।।

दुराचरण का संरक्षण है, अन्तः करण कठोर है

□ काव्य श्री कल्याण कुमार शशि, रामपुर

आज वीर के उपदेशो को दुनिया भूल चुकी है
इसीलिये बढ़ती हिंसा से प्राणी आज दुखी है
रेखायें मिटती जाती है, जग से जीवन दानकी
बोल रहे हैं दिखावटी जय महावीर भगवान की।

दुराचरण का संरक्षण है, अन्तः करण कठोर है
रक्त पात हिंसा हत्या में, निर्मम आदम खोर है
खिड़की बन्द कर रखी हमने, मन के रोशन दान की
बोल रहे हैं दिखावटी जय महावीर भगवान की।

मन निर्मल करने वाला अब, रहा नहीं आहार है
निरपेक्ष शासन में बढ़ता, जाता मांस प्रचार है
आस्थाएँ मिट रही, अहिंसा दया धर्म ईमान की
बोल रहे हैं दिखावटी जय महावीर भगवान की।

भक्षाभक्ष चरित्र लक्ष्य का रहा न रञ्च विचार है
बाहर जय जयकार कर रहे, अन्दर मायाचार है
जैसे चम्बल घाटी में चर्चा हो वेदपुरान की
बोल रहे हैं दिखावटी जय महावीर भगवान की।

सन्मति वाणी खिरी, जियें हम दुनियां को जीने दें
सरिताएँ सबकी है, सबको इनका जल पीने दें
केवल नारों में क्या है, महिमा है निष्ठावान की
बोल रहे हम दिखावटी जय महावीर भगवान की।

आदर्शों को रटने वाले, असफल रह जाते हैं
सक्रिय 'वीरवन्दना' वाले, वाञ्छित फल पाते हैं
मोक्ष महल की सीधी सीढ़ी, सन्मति के श्रद्धान की
बोल रहे हम दिखावटी जय, महावीर भगवान की।

महावीर के उपदेशो की फिर से याद दिलाओ

(रचि० अनूपचन्द न्यायतीर्थ, 'साहित्यरत्न')
769, गोदिको का रास्ता
किशनपोल बाजार
जयपुर (राज०)-3

धधक रही हिंसा की ज्वाला छूती हैं लपटें आकाश।
तुली हुई दानवता, करने मानवता का सत्यानाश।।
जनता त्रस्त भयाक्रात है भय से पिण्ड छुडाओ ।।महा०।।
क्षण भर मे हो जाय भस्म सब होड लगी शस्त्रो की आज।
केवल एक अहिंसा ऐसी बचा सके जो राष्ट्र समाज।।
'जीओ और जीने दो सब को' ऐसा ज्ञान सिखाओ ।।महा०।।
गुण्डे चोर डकैत घूमते हाथो मे लेकर हथियार।
निरपराध के गले काटते छीना झपटी सभी प्रकार।।
जीना दूंलभ कर रखा है इनको दूर भगाओ ।।महा०।।
लूट रहे हैं बैंक निडर हो बदूकें सीने पर तान।
मिटा रहे सिंदूर माग का मा बहिनो के ये नादान।।
इस फले आतकवाद को जड से आज हटाओ ।।महा०।।
कही सुरक्षा नही किसी को जल मे थल मे नभ के बीच।
आतकित कर रहे सभी को कुछ सिरफिरे अधम और नीच।।
राष्ट्र कलकित करते ये ही इन्हे समूल मिटाओ ।।महा०।।
जो अखण्ड भारत टुकड करने की करते हैं बात।
जाति और भाषायी दगे भडकाते रहते दिन रात।।
सब से बडे देश के दुश्मन, इन से देश बचाओ ।।महा०।।
गुरू नानक और गोविन्द सिंह के नामो का करते उपयोग।
धर्म स्थान स्वर्ण मंदिर को शस्त्रागार बनाते लोग।।
नही छुपाये हत्यारो को उन को अब समझाओ ।।महा०।।
कुछ समाज कटक हैं ऐसे जो करते सबको बदनाम।
कर चोरी और करें मिलावट धोखा घडी मुख्य है काम।।
भटक गया है पथ से मानव उसको मार्ग दिखाओ।।
महावीर के उपदेशो की फिर से याद दिलाओ।।

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

□ गुलाब चन्द जैन वैद्य
ढाना (सागर)

अहिंसा ही बना सकती, विश्व में वह देश,
हो जहां न वैर घृणा, न द्वेष का परिवेश।
जहां करुणा के दया के खिल रहे हों फूल,
ढूढ़ने पर हो असम्भव, जहां कण्टक शूल।
था कभी विख्यात जगमें, एक भारत देश,
वीरवाणी दे रही थी, विश्व को उपदेश।
खुद जिओ तुम दूसरों को और जीने दो,
प्रेम अमृत खुद पियो, तुम और पीने दो।
आर्तजन के बांट लो, तुम दुःख संकट क्लेश,
अहिंसा ही मिटा सकती, है जगत का क्लेश ॥1॥
अहिंसा से हो सकेगा, सत्य का प्रसार,
तब स्वयं ही झूठ का, रुक जायगा व्यापार ।
काठ की हण्डी चढ़ेगी, किस तरह हरबार।
धुएं में नाहक चलाना, काठ की तलवार।
दूसरों का हक हड़पना, ही है परिग्रहभार,
जोड़ कर सम्पति न, करिये आप अत्याचार।
प्राप्त हो यदि पुण्य से, धन धान्य का अतियोग,
क्षुधित जन में कीजिए, उस द्रव्य का उपयोग।
ज्ञान शाला खोल करिये, धर्म का उपदेश,
अहिंसा ही मिटा सकती, है जगत का क्लेश ॥2॥
कीजिये सब प्राणियों से प्रेम का व्यौहार,
कष्टकर न हो किसी को, यथा यत्नाचार।
करिये न पैदा कभी मन में, विषय और विकार,
ब्रह्म में चर्या तभी होगी, महा सुख कार।
यही होगा अहिंसा के जगत का आधार,
पड़ने लगेगी प्रेम की मरुभूमि में बौछार।
दम्भ छल आतङ्क का, मिट जायगा तब नाम,
गूंज उठेगा परस्परोपग्रहोजीवनाम्।
हो सकेगी तभी हिंसा, जगत से निःशेष,
अहिंसा ही मिटा सकती, है जगत का क्लेश ॥3॥

परिग्रह पाप नहीं है, पुण्य है । (व्यंग)

□ हास्य कवि हजारी लाल जैन 'काका'
सकरार [झांसी] उ० प्र०

हे महावीर भगवान !
हम लोग आपका कितना अधिक रखते हैं ध्यान,
सुबह पाँच बजे स लेकर रात्रि के दस बजे तक आप की जय जयकार मचाते ही रहते हैं,
पूजा पाठ आरती नृत्य गान आदि एक न एक स्कीम चलाते ही रहते ह,
आज कल हम लोगो के श्रम से सभी तीर्थ क्षेत्र स्वग बन रहे हैं,
और आप के लिये जो काय हमारे पुरखो ने नही किया वह हम कर रहे हैं
लोगो के द्वारा सैंकडो मंदिरो और मूर्तियो का निर्माण हो रहा है
जिससे हमारे साथ–साथ अनेक भाईयो का कल्याण हो रहा है ।

वैसे हम लोग तीर्थों और पच कल्याणको मे केवल पिकनिक मनाने जाते हैं,
और अगर मन मे आगया तो—
इद्र सौधम इद्र तो क्या आपके बाप भी बन जाते हैं,
मगर आप की तरह महावीर बनने के भाव कभी भी नहीं आते हैं,
क्योंकि जहा चारित्र का प्रश्न आता है शम से मस्तक झुक जाते हैं,
इसका एक कारण है कि आज के आदमी ने धम का मुखौटा ओढ लिया है,
और दिखावे को अपना कर असलियत को छोड दिया है,
इसीलिए आज के प्रतिष्ठाचाय भी इन्हे मामूली से त्याग मे इद्र महेन्द्र और सौधम जैसे देवेन्द्र बना देते हैं ।

और फिर ये लोग हाथी पर सवार होकर बडे प्रसन्न होते हैं और नम्बर दो के पैसे से नम्बर दो की पदवी पाकर अपना नर भव सुधार लेते है ।

हे प्रभू आपने जिस परिग्रह को पाचवा पाप बताकर समाज को जो सही माग दशन दिया था,

और सुकृत की कमाई के द्वारा कम से कम में काम चलाने का सन्देश दिया था—
आज उसी परिग्रह को पुण्य बताकर आपके सिद्धान्तों को मटिया मेट कर दिया गया है,
और परिग्रह पाप नही पुण्य का कारण है ऐसा समझौता कर लिया गया है ।
इसीलिये आज का आदमी आत्मा की बात जानने के बजाय अंतरात्मा से परिग्रह रूपी पुण्य इकट्ठा करने मे जुट गया है,

और सच पूछो तो धर्म के नाम पर पूरा का पूरा लुट गया है ।
आज न्याय से धन उपार्जन कर रूखी सूखी खाने वाला व्यक्ति पापी और अभागा समझा जाता है,
जबकि परिग्रह जोड़ कर एयर कंडीशन बंगले में रहने वाला व्यक्ति पुण्यवान और भाग्यशाली कहलाता है ।

अब आप ही बताइये परिग्रह पाप का कारण है या पुण्य का उदाहरण है ?
परम् पूज्य कुंद कुन्द आचार्य नेभी पुण्य को हेय बता कर और परिग्रह को पाप बताकर मोक्ष मार्ग का उपदेश दिया था, और परिग्रह संसार का कारण है ये आदेश दिया था;
मगर आज हम उनके उपदेशो से मन को मोड़ रहे हैं,
और काच के चक्कर मे कंचन को छोड़ रहे हैं ।
अतः हे महावीर भगवान एक बार फिर आइये,
और अपने रजिस्टर्ड भक्तों को पाप पांच है ये बात फिर से समझाइये ।

———

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ 42 ॥

आत्मा सुखों और दुखो का कर्ता है तथा उनका अकर्त्ता भी है । शुभ मे स्थित आत्मा मित्र है और अशुभ मे स्थित आत्मा शत्रु है ।

महावीर प्रभु की वाणी को

□ राजमल पवैया

महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर मे अगर उतार।
रागादिक हिंसादि भाव तज हो जाता भव सागर पार॥

काम भोग मे सतत मूढ रह, धम नही पहिचान सका,
हो प्रमाद वश महा मोह का, कर न कभी अवसान सका,
नश्वर देह मान कर अपनी, निज को कभी न जान सका,
विरत न हिंसा से हो पाया कर न आत्म-कल्याण सका,
उत्तम नर भव पाकर भी मैं, बहा सदा चहुँगति दुखधारा।
महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर मे अगर उतार॥ 1॥

अपने दुख को कभी न जाना, पर का दुख क्या जानता,
पर के दुख को अगर जानता, तो अपना भी जानता,
इसीलिए निज पर की हिंसा, सदा हुई मेरे द्वारा,
जीवो की विराधना करके पाई मैंने भव दुख कारा,
भेदज्ञान द्वारा निजात्मा को कभी न निरखा आँख पसार।
महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर मे अगर उतार॥ 2॥

रूप गध रस स्पर्श शब्द मे हो आसक्त गिरा हर बार
निज पद के प्रति सावधान रहता तो मिट जाता ससार,
काम भोग मे फस हिंसादिक वक्र प्रवृति रही मेरी,
पर द्रव्यो मे हुआ मूर्छित सुमति, कुमति ने ही घेरी,
सत्य शील से रहा दूर मैं, किया परिग्रह का व्यापार।
महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर मे अगर उतार॥ 3॥

क्रोध मान मायादि लोभ से सदा जुडी परिणति मेरी,
निजस्वरूप से अरुचि सर्वथा, रही बुद्धि पर की चेरी,

समकित लेकर जप तप संयम विनय भाव से करता प्यार,
कुप्रवृतियों से निवृत हो लेता निज स्वभाव आधार,
उदासीन हो भव तन भोगो से, लेता शिव सौख्य अपार।
महावीर प्रभु की वाणी को उर मे लेता अगर उतार ॥ 4 ॥

हृदयंगम कर लेता यदि मैं महावीर प्रभु का उपदेश,
मोह विलय हो जाता क्षण मे रहता कभी न भव दुख क्लेश,
क्षय प्रमाद कर वीतरागता का ही धारण करता वेश,
जन्म मरण दुख नाश सर्वथा, हो जाता मैं वीर जिनेश,
निज शुद्धत्व प्रगट कर पाता अनुपम सिद्ध स्वपद अविकार।
महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर में अगर उतार ॥ 5 ॥

इस नर भव की परछाई भी दुर्लभ आगामी भव मे,
यह पर्याय व्यर्थ जाएगी उलझेगा भव कलरव मे,
यह स्वर्णिम अवसर न व्यर्थ खो तत्वज्ञान का कर अभ्यास,
बोधिलाभ के द्वारा पाएगा तू केवल ज्ञान प्रकाश,
जिया चेत अब मत प्रमाद कर, तू अखण्ड सुख का भंडार।
महावीर प्रभु की वाणी को लेता उर मे अगर उतार ॥ 6 ॥

———

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥ 43 ॥

जो (व्यक्ति) कठिनाइयों से जीते जाने वाले संग्राम में हजारों के द्वारा हजारों को जीते (और) (जो) एक स्व को जीते, (इन दोनों में) उसकी यह (स्व पर जीत) परम विजय है।

महावीर पाये है

□ गुलाबचन्द पुर्देलीय
४८ लाजपतपुरा सागर (म प्र)

कमल ने अमल जल विन्दु, निज शीश धारे
दिन मणी ने आभासों, जला मणि बनाये हैं
चम्पा खिली है झूमती है चमेली और
किंशुक की लाली लख, लालहू लजाये हैं
कोकिल कुहू कुहू, पुकारती उपवन मे
आम्र बौराये सो, मजरी नव लाये हैं
खेतों की दोखे है, निराली छटा हो आज
स्वर्ण परिधान मानों गात पर सजाये हैं
प्रमुदित है नारी नर, राजा औ प्रजा हु सब
उत्सव मनाये अतिहर्ष, उर लाये है
स्वागत हेतु देव देविया हु स्वर्गों से
इन्द्र इन्द्रानी संह सज-धज कर आये हैं
छाया है चारो ओर हर्ष ही हर्ष और
हर्ष ही सहर्ष हर्ष प्रकटाने आये हैं
कारण है एक आज, कुन्डलपुर के मझार
त्रिशला महारानी ने "महावीर पाये हैं"



......किन्तु न तुम संहार करो रे देश का

□ ज्ञानचन्द्र 'ज्ञानेन्द्र' ढाना म. प्र.

साथी यदि निर्माण लेश भी कर न सको,
किन्तु न तुम संहार करो रे देश का !

तन ढकने को मेरे साथी
दे न सको तुम कुर्ता धोती
किन्तु न छीनों लाज ढांकने
वाली उनकी फटी लंगोटी ।
यदि तुम दुःखी दरिद्री दीनों
को न भले ही गले लगाओ
किन्तु साथी यह न करो तुम
गिरते नर को और गिराओ ।
जो भूखों को रोटी यदि तुम दे न सको
लेकिन छीनों कौर न खाली पेट का ।
साथी यदि निर्माण लेश भी कर न सको
किन्तु न तुम संहार करो रे देश का ॥ १ ॥

दो न सहारा और न तुम
पीड़ित मानव के आँसू पोंछो
कांटे नही निकालो तुम
पर छाती मे भाले मत भोंको ।
भार न हल्का कर सकते पर
और न उन पर बोझा लादो
दुःख पीड़ितों के मत बांटो
किन्तु न उन पर संकट डालो ।
मानव हो तुम बनो महा मानव न भले ही
किन्तु न दानव बनो पुंज अविवेक का ।
साथी यदि निर्माण लेश भी कर न सको
किन्तु न तुम संहार करो रे देश का ॥ २ ॥

कृषकों व श्रमिकों के श्रम में
तुम न भले ही हाथ बटाओ
खेतों मिलों, कारखानों में
लेकिन काम न बन्द कराओ।
सीमा पर दुश्मन से साथी
तुम न भले ही लड़ने जाओ
किन्तु न माता के आंचल में
साम्प्रदायिकी आग लगाओ।
नई योजनाओं से मार्ग सुझा न सको
किन्तु न तुम गुमराह करो रे देश का।
साथी यदि निर्माण लेश भी कर न सको
किन्तु न तुम सहार करो रे देश का ॥ ३ ॥

अरे देश के निर्माताओ
ओ सीमा के पहरेदारो
अय युवको, अय कृषको, श्रमिको
अय धरती के भामा शाहो !
विचलित मत हो, बहको मत रे
लगे रहो अपने कामों में।
सावधान हो तुम यह देखो
लोलुप जयचन्दी गद्दारों जैसे कोई दुश्मन
अंग भंग न करदे अपने देश का।
साथी यदि निर्माण लेश भी कर न सको
किन्तु न तुम सहार करो रे देश का ॥ ४ ॥



क्रान्ति के अग्रदूत भगवान महावीर

● हरख चन्द शाह

भगवान महावीर को जन्मे लगभग 2600 वर्ष पूरे हो चुके है फिर भी उनके सिद्धात आज भी उतने ही उपयोगी है जितने उस समय थे। स्याद्वाद अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा की भूमिका पर भगवान महावीर के सार्वकालिक सिद्धान्त है। महावीर का उपदेश "जीवो और जीने दो" आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय था। उनका उपदेश "मित्ति मे सव्व भुएसु" अर्थात् संसार के सभी प्राणियो मे मेरी मैत्री है, आज के इस युग में जहा मानव का जीवन अब अवकार मय है कितना उपयोगी सिद्ध हो सकता है। आज की वर्तमान समस्याओं के संदर्भ में महावीर के उपदेश ताजे और उपयोगी है ।

महावीर जन्म से भगवान नही थे बल्कि अपने पुरुषार्थ एव साधना से भगवान बने। महावीर तीर्थंकर थे क्योंकि उन्होंने धर्म तीर्थ की स्थापना कर धर्मोपदेश दिये। महावीर क्रांतिकारी थे क्योंकि उन्होंने सामाजिक, धार्मिक आदि रूढ़ियो और पाखंडो का विरोध किया। महावीर जन प्रतिनिधि थे क्योंकि वे गांव-गाव पैदल घूम कर जनता की भाषा मे धर्म प्रचार करते रहे ।

महावीर के उपदेशो का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

1. प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है, कोई किसी के अधीन नही है ।
2. सब समान आत्मायें है, कोई छोटा बडा नही है ।
3. प्रत्येक आत्मा अनन्तज्ञान और सुखमय है । सुख कही बाहर से नही आता है ।
4. आत्मा ही नही, प्रत्येक पदार्थ स्वय परिणमनशील है। उसके परिणमन् मे पर पदार्थ का कोई हस्तक्षेप नही है ।
5. सब जीव अपनी भूल से दुःखी है और स्वयं अपनी भूल सुधार कर सुखी हो सकते हैं।
6. अपने को नही पहचानना ही सबसे बड़ी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है ।
7. भगवान कोई अलग नही होते, यदि सही दिशा मे पुरुषार्थ करे तो प्रत्येक जीव भगवान बन सकता है ।
8. स्वयं को जानो—स्वयं को पहिचानो और स्वयं मे समाजाओ, भगवान बन जायेंगे ।

9 भगवान जगत का कर्ता नहीं है–वह तो समस्त जगत का मात्र ज्ञाता दृष्टा है।

10 जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके, अर्थात् पूर्ण रूप से अप्रभावित रह कर जान सके, वही भगवान है।

\+ \+ \+

महावीर!
एक तूफान था, बवण्डर था
धराशायी कर दिये जिसने
दम्भ के स्तम्भ को,
झकझोर दिया नींव से
लोभ और पाखण्ड के प्रासादों को।
भर दिया सारे वातावरण को
पंच महाव्रत के प्राणवायु से,
जीवित है मानवता आज
उसी की सांस पीकर।
महावीर
एक शोला था
होली जलादी जिसने
कषायों के कचरे की
राख हो गये लपटों में तड़पड़ाकर
काम क्रोध के बीज
भर दिया सारे वातावरण को सौरभ से
जलाकर धूप दया और करुणा की
प्रवाहित है आज रक्त
मानवता की धमनियों में
उसी की उष्णता को पाकर।
ऐसे महा मानव चरम तीर्थंकर श्री महावीर
को कोटिशः वन्दन।

5–क–5, जवाहर नगर,
जयपुर—4

अनन्त संसार कैसे मिटे ? कोई कहता है कि संसार तो अनंत है, वह कैसे मिटे ? उसका उत्तर है कि—

बन्दर की उलझन इतनी ही है कि वह मुट्ठी नहीं छोड़ता, तोते की उलझन इतनी ही है कि वह नलिनी नहीं छोड़ता। कुत्ते की उलझन भी इतनी है कि वह भौंकता है। त्रिवक (तीन मोड़े वाली) रस्सी को सांप मानता है, सो उसे भय भी तभी तक है जब तक वह ऐसा मानता रहता है। हरिन मरीचिका में जल मानकर दौड़ता है और इसी से वह दुःखी है। इसी प्रकार आत्मा पर को आप रूप मानता है, बस इतना ही संसार है और ऐसा न माने तो मुक्त ही है।

चिद्, विलास प. दीपचन्द शाह।

धर्म मानव कल्याण की औषधि

☐ श्री रमेश चन्द्र गंगवाल

धर्म वह औषधि है जो मानव की पीड़ा हरती है, कुंठा मुक्त करती है, सुखी बनाती है। इसके प्रयोग के अनेक रूप हो सकते है, इतिहास में हुये है और होते रहेगे। हिन्दू, मुसलमान, जैन, ईसाई, सिख आदि धर्म के विभिन्न प्रकार के प्रयोग ही है। मोटे रूप मे, इन सबका लक्ष्य एक ही है–मानव कल्याण।

मानव हित की इस महान औषधि का आज सब ही प्रयोग परम्पराओं में रूप कुछ विकृत हो गया है। परिणामत: मानव इसे ग्रहण करने के स्थान पर दूर हट रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि धर्म के मुख्य सिद्धान्तो को हम लकीर के फकीर होकर न स्वयं अपनाये और न नयी पीढ़ी को को भी बिना उनका महत्व समझाये अपनाने के लिए बाध्य करे। अन्धानुकरण का पुराना ढर्रा आज कारगर नही हो सकता। —जैन धर्म, जो एक वैज्ञानिक (युक्तियुक्त) धर्म कहलाता है, के के अनुयायी भी आज आस्थाविहीन हो रहे है, भटक रहे है। यदि हमें सुखी होना है तो धर्म को सार मूल रूप में समझकर तथा परिवार समाज के अन्य सदस्यों को इसे समझाकर अपने जीवन में इसको ढालने के लिये प्रेरित करना चाहिये।

यहां पर भ्रांति जो हम में आ गई है कि धर्म प्रचार-प्रसार, धार्मिक शिक्षा, ज्ञान आदि केवल धर्म गुरुओं, पण्डितो, या शिक्षण संस्थाओं का ही कार्य है हमारी भूल है। धर्म के प्रति समाज के हर अंग का दायित्व है। इसकी सार्थकता समझकर इसको जीवन में ढालना हम सब पर निर्भर करता है। **यह धर्म तो एक रोशनी है** जिसके अभाव प्रत्येक मानव का जीवन अंधकार पूर्ण है।

समाज में व्याप्त कुरितियो एवं व्यर्थ परम्पराऐ जो धर्म का रूप लिये हुये है, वास्तविक धर्म पर आवरण है। यदि वास्तव में धर्म के स्वरूप को बनाऐ रखना है तो समाज के हर परिवार को, परिवार के हर सदस्य को गम्भीरता से चिन्तन करना होगा कि किस प्रकार इन धार्मिक मिथ्या आडम्बरो को अपनी परिस्थिति के अनुकूल कैसे किया जावे। यदि किसी औषधि मे कोई मिलावट हो जावे तो वह बे-असर हो जाती है और कभी-कभी तो हानिप्रद भी। ठीक इसी प्रकार धर्म जो आत्म शुद्धि की औषधि है आडम्बर रूपी मिलावट से प्रभावहीन और हानिकारक हो सकता है जैसा कि आज हम देख रहे है।

आज 20 वी सदी के अन्तराल में मानव भटक रहा है। सर्वत्र अशान्ति ही अशांति दृष्टिगत हो रही है। विश्व का हर देश भविष्य के प्रति भयभीत है। केवल धर्म ही एक ऐसी औषधि है जो आने वाली 21 वी सदी मे मानव को विश्व मे सुख शान्ति देगी और भय, चिन्ताओं से निवृत्ति दिला सकेगी, लेकिन यह तभी सम्भव है जब विश्व मे मानव इसके वास्तविक रूप को समझे और इसे जीये, आडम्बर से ऊपर उठे।

कविता

वीर वही जो आत्म विजेता

डा० नरेन्द्र भानावत

(1)

जिसने अपने तन-धन बल से,
जन-मन पर अधिकार जमाया।
हथियारों की होड़ लगाकर,
दुश्मन का सब कुछ हथियाया।।

भय, आशंका प्रतिहिंसा में
ग्रस्त वीर, वह कैसा जेता?
वीर वही जो आत्म विजेता।

(2)

जिसकी आंखों में करुणा का,
हरदम शान्त सिंधु लहराता।
जिसकी सांसों में मैत्री का,
सुरभित नन्दन वन मुसकाता।।

जो निर्भय, निर्द्वन्द्व, निराकुल,
अपनी नाव स्वयं ही खेता।
वीर वही जो आत्म विजेता।।

(3)

विषम-विचारों का विष जिसको
छूकर अमृत में ढल जाता।
दुनिया का जितना भी कल्मष,
गल-गल कर कंचन बन जाता।।

राग-द्वेष को जिसने जीता,
वही विश्व का सच्चा नेता।
वीर वही जो आत्म-विजेता।।

(4)

जो न किसी को पीड़ित करता,
पर-पीड़ा से स्वयं दहकता।
जो न किसी बन्धन में रहता,
पर-बन्धन से दुःख अनुभवता।।

जो सबकी मुक्ति का कामी,
निष्कामी, सद्भाव-प्रणेता।
वीर वही जो आत्म-विजेता।।☐

'वीर प्रभु अब राह दिखावो'

रचयिता—वैद्य प्रभु दयाल कासलीवाल

(1)

वीर प्रभु अब राह दिखावो शरण तुम्हारी आया हूं।
ज्ञान अलौकिक है प्रभु तेरा उसे जानने आया हूं ।।वीर०।।

(2)

मैं भी आतमा ज्ञान स्वरूपी शुद्ध एक निश्चय से हूं।
मेरे गुण सब प्रकट क्यों नहीं भेद समझने आया हूं ।।वीर०।।

(3)

हर प्रदेश आत्म का ज्ञानी हर प्रदेश पर परदा है।
यह परदा कब दूर हटेगा यही पूछने आया हूं ।।वीर०।।

(4)

प्रतिदिन सूर्य उदित होता है ज्ञान सूर्य मम उदित न हो।
कौन पटल है ज्ञान सूर्य के यही समझने आया हूं ।।वीर०।।

(5)

कमल पुष्प में भंवरा बैठे हाथी उसे निगलता है।
हाथी का भय क्यों ना उसको यही जानने आया हूं ।।वीर०।।

(6)

पुष्प मोह को भवरा छोड़े उसको काट निकलता है।
किस विधि मोह हटे इस जग से तत्व समझने आया हूं ।।वीर०।।

(7)

अष्ट कर्म यदि कट जावे तो भ्रमण सभी मिट जाता है।
किस विधि कर्म आपने काटे यही समझने आया हूं ।।वीर०।।

———

विश्व शान्ति के लिये भगवान महावीर के सिद्धान्तो का महत्व

□ सुश्री मोनिका केडिया, कक्षा 9
श्री पद्मावती जैन बालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय

नव भारत का निर्माण किया
सपनो का उपवन उल्लास
विश्व मानवता को प्यार दिया
उन्नत ज्ञान, भक्ति का वरदान दिया
एक तुम्ही तो अपने थे
जिसे मोक्ष प्राप्ति निर्वाण हुआ।
तुम्हें समर्पित श्रद्धासुमन
विश्व शान्ति पैगाम दिया
एक तुम्ही तो अपने थे
जिसे मोक्ष प्राप्ति निर्वाण हुआ॥

अहिंसा के पुजारी, शान्ति के अग्रदूत, सत्य के मसीहा और ससार से अज्ञान रूपी अन्धकार को हटाकर ज्ञान रूपी दीप प्रज्ज्वलित करने वाले महावीर को मेरा कोटि कोटि प्रणाम हो।

आज समस्त ससार मे हर तरफ हिंसा मार-काट, चोरी डकैती, दगे फसाद, अकाल और बाढ आदि विनाशकारी तत्त्व फैले हुए है। इस हिंसा युग मे मानव ने कितने जीवननाशक तत्वो का अविष्कार कर लिया है जिनके कारण समस्त मानव जाति ही नही वरन् और सभी कुछ नष्ट हो जायेगा। आज मानव को आवश्यकता है किसी किसी ऐसे मानव के उपदशो की जिनके द्वारा यह विनाश की लीला होने से ठहर जाए।

प्राचीन काल से ही इस विश्व की धरा धूलि पर अनेकानेक प्राणियो का जन्म हुआ है जो मानव इस ससार मे आया है उसे एक न एक दिन तो मिटना ही है। मानव जन्म लेता है युवावस्था को प्राप्त होता है और फिर वृद्धावस्था का भार उसके पश्चात् एक न एक दिन तो उसे इसी धरा धूलि मे विलीन होना पडता है जब मानव का यह पचभूतो से बना शरीर निस्तब्ध होकर सो जाता है तो उसके पश्चात् वह मानव भी भुला दिया जाता है लेकिन ससार मे कुछ ऐस भी मनुष्य जन्म लेत है जिनका जीवन मानव मात्र के लिए, स्वदश के लिए और धम व जाति के लिए समर्पित होता है। वर्धमान महावीर का जीवन भी ऐसा ही था। उन्होंने अपने कार्यों के द्वारा जन मानस से ऊँचा उठकर महापुरुष कहलाने की की योग्यता रखी थी। उन्होंने अपने जीवन काल मे मानव को ऐसे उपदेश दिये, ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जिनकी आवश्यकता शायद उस समय तो नही थी लेकिन आज है। आज विश्व को आवश्यकता है महावीर के उन सिद्धान्तो की जिनके द्वारा आज विश्व शान्ति की ओर अग्रसर होगा।

जब जब होय धरम कै हानि
बाढहि असुर सकल अभिमानी,
तब तब धरि मनुज शरीरा
हरहिं सकल सज्जन भव पीरा॥

कहा जाता है कि जब कभी भी ससार पर कोई कष्ट आता है या फिर उस ससार मे रहने वाले मनुष्य अपने कत्तव्य को भूलकर भोग विलास

नोट–जैन सभा द्वारा दिनाक 2–3–86 को आयोजित निबन्ध प्रतियोगिता मे द्वितीय स्थान प्राप्त बालिका का लेख

में लुप्त हो जाते है और चारो ओर अज्ञान रूपी अन्धकार फैला होता है तब कोई ऐसा मनुष्य जन्म लेता है जो इस संसार में रहने वाले मनुष्यों को उनके कर्त्तव्यों का ध्यान कराता है और अपने उपदेशो द्वारा ज्ञान की ज्योति से समार को चकाचौंध कर देता है।

भगवान महावीर का जन्म उस समय तो शान्ति के युग मे ही हुआ था लेकिन उस समय भी चारो ओर रोग-दुःख, अभाव, मृत्यु और शोक आदि जीवन तत्त्व तब भी थे। भगवान महावीर ने अपनी माता के गर्भ में ही संयासी बनने का निश्चय कर लिया था और उन्होने उस निश्चय को सत्य कर दिखाया। भगवान महावीर ने जब रोग, दु ख, मृत्यु आदि को देखा व अनुभव किया तो उन्होने निश्चय किया कि वे इन सबका कारण जरूर ढूढेंगे। वैसे तो इस भारत-भूमि मे भी कितने ही असख्य महापुरुष व विरांगनाये हुई है और न जाने कितने ही साधु व साध्वी हुए है उनमें कई तो देश के लिए मरे। कईयो ने जाति व धर्म के लिए अपने प्राणो की आहुति दे दी। उनमे से वर्धमान महावीर ने भी धर्म के लिए अपना जीवन धर्म को समर्पित कर दिया।

भगवान महावीर ने जब समय की स्थिति का अवलोकन किया तो उन्हे लगा कि जन्म दुःख है। आधि दुःख है, व्याधि दुःख, मृत्यु दुःख, जरा दुःख है। इस ससार मे चारो ओर दुःख ही दुःख है। इस दुःख मे डूबे संसार में मानसिक शान्ति नही मिल सकती है। इन दुःखो से मुक्त होने का कोई साधन होना चाहिए और इन दुःखो से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने पहले स्वयं को तैयार किया। उन्होंने दुःखो से मुक्ति पाने के लिए साधना कठोर साधना, सत्य प्राप्ति तक की साधना की। उन्होंने युगान्तरकारी परिवर्तन को जन्म दिया था जिसके द्वारा उन्होंने समाज में फैली गलत धारणाओ एवं विचारधारा आदि के ऊपर निर्भीक प्रहार किया। इस कार्य मे उनके पास सत्ता का बल नही था अपितु हृदय का बल था। महावीर ने दुःखों को एकमात्र कारण हिंसा ही बताया था जिसके कारण मानव चाहे कोई भी हिंसा करे चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक। किसी का दिल दुःखाना, किसी को बुरे वचन कहना ये सब हिंसा ही तो है।

महावीर ने लोगों को इस हिंसा से बचने के लिए कहा। उन्होने लोगो को उपदेश दिया कि जब तक हम स्वयं अपनी हिंसा प्रवृत्ति को नहीं त्यागेंगे तब तक हम शान्ति की ओर अग्रसर नही हो पायेगे। उन्होने मानव को उपदेश दिया कि इस संसार मे तुम आये तो सबके साथ अच्छा व्यवहार करो, सबको प्रेम से गले लगाओ, एक-दूसरे से मित्रतापूर्ण विचार बनाये रखो तभी तो तुम अहिंसा को अपना लक्ष्य बना सकते हो।

उन्होंने ऐसे ही एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि 'अहिंसा परमोधर्मः" अर्थात् अहिंसा ही परम धर्म है अगर प्रत्येक मनुष्य अपने स्वार्थ, अपने हित को छोडकर दूसरो की सोचे तो शायद यह विश्व शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। आज हर कोई व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए एक-दूसरे जीवो की हत्या कर देता है महावीर ने इसके लिए उपदेश दिया कि जीओ और जीने दो" अर्थात् आज हर व्यक्ति जिन्दा रहना चाहता है तो उसको चाहिए कि जिस प्रकार वह जिंदा रहने की अभिलाषा रखता है उसी प्रकार दूसरे भी जीवित रहने की अभिलाषा रखते है।

आज विश्व के प्रत्येक देश ने अणु बम, परमाणु बम जैसे घातक तत्त्वों का आविष्कार कर लिया है आज वर्तमान है हर क्षण, हर पल युद्धों का भय बना रहता है। हमारा भारतवर्ष तो सदा से ही शान्ति प्रिय देश रहा है उसके दूसरे देशो से सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण आज भी है लेकिन आज उसे भी युद्धों के भय से परमाणु अणु आदि घातक शस्त्रों का निर्माण करना पड रहा है पाकिस्तान के कारण भी भारत को विनाशकारी हथियारों

का निर्माण करना पड़ता है कारण कि वह कश्मीर पर अपनी आंख लगाये हुए है। तो अगर आज हम महावीर के सिद्धान्तों को अपने जीवन का लक्ष्य बनालें तो शायद हम इस डूबते महासागर से पार हो सकते हैं आज विश्व शान्ति के लिए आवश्यकता है अहिंसा की। क्योंकि महावीर के और दूसरे सिद्धान्त अहिंसा से ही जुड़े हुए हैं।

आज हर व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए और छोटी-छोटी गलतियों को छुपाने के लिए झूठ बोल देता है अध्यापक की मार से बचने के लिए विद्यार्थी कोई न कोई बहाना बना लेता है उसी प्रकार न जाने हम दिन में कितनी ही बार झूठ बोल जाते हैं छोटी-छोटी बातों में झूठ बोलकर हम अपनी झूठ बोलने की प्रवृत्ति को और भी अधिक प्रभावित करते हैं। भगवान महावीर ने लोगों को 'सत्य बोलने का' सिद्धान्त बताया। तभी मानव अपनी छोटी छोटी गलतियों को सुधार सकता है।

आज का बच्चा ही अगर झूठ बोलने लगेगा तो बड़ा होकर वह क्या करेगा? आज मानव को आवश्यकता है कि 'सत्य को सामने लाने की' और 'असत्य को छोड़ने की' तभी तो विश्व शान्ति की ओर अग्रसर होगा।

विश्व में जाने कितने ही महापुरुष हुए हैं अगर वे सभी झूठ बोलने लगे तो फिर और दूसरे लोगों का क्या होगा शायद फिर तो हर व्यक्ति का लक्ष्य झूठ बोलना ही होगा।

भगवान महावीर कहते हैं कि अगर सच बोलने से थोड़ी सी डांट मार भी खानी पड़े खा लेनी चाहिये तभी तो झूठ बोलने की प्रवृत्ति से छुटकारा मिलेगा। झूठ बोलकर अगर हम किसी का दिल दुखाते हैं तो वो भी एक प्रकार की हिंसा ही है और जब हम किसी का दिल दुखाते हैं तो उसके हृदय से हमारे लिए बुरी भावनाएं उत्पन्न होती हैं जिसके कारण हम पाप के भागी बनते हैं।

भगवान महावीर एक सिद्धान्त बताया वो यह कि अगर हर मनुष्य अपरिग्रह का पाठ पढ़ लेगा तो शायद ही कहीं पर किसी वस्तु की कमी होगी और जब हर जगह हर वस्तु मिलेगी तो अपने आप ही अहिंसा हो जायेगी। जब भूखे को भोजन नग्न को वस्त्र मिलेगा तो वह हमारे लिए दुआएं देगा और हम पाप से मुक्त हो जायेंगे और जब हम पाप से मुक्त हो जाएंगे तो हमारे लिए भी स्वर्ग के द्वार खुल जाएंगे।

आज हर जगह नारियों के साथ बलात्कार, अश्लील मजाक, उनके साथ छेड़ छाड़ आदि किए जाते हैं आज अगर हर व्यक्ति अब्रह्मचर्य का त्यागकर ब्रह्मचर्य को अपनाए तो शायद ये सब नहीं होगा जो आज हो रहा है।

कहा जाता है कि लड़ाई के तीन कारण हैं जर, जन और जोरू अर्थात लड़ाई इन तीनों के कारण ही होती है अर्थात या तो मनुष्य जमीन या धन या फिर नारी के लिए ही लड़ता है। विश्व के इतिहास में कई युद्ध तो सिर्फ नारी के लिए ही हुए हैं।

आज अगर हम सभी विश्व शान्ति के सपने को साकार कर ले तो शायद चतुर्थ युद्ध जो कि सिर्फ लाठियों से होने वाला है वह नहीं होगा। महावीर के सिद्धान्तों को अगर हर व्यक्ति अपने सामाजिक जीवन में उतार ले तो शायद कोई लड़ाई का कारण ही नहीं रहेगा।

भारतीय मनुष्यों की सर्वदा ही यह नीति रही है कि संसार में सुख का साम्राज्य हो और विश्व का हर देश शान्तिप्रिय हो। भारतीय ऋषि मुनियों का भारत, प्राचीन धर्मग्रन्थों का निर्माण स्थल भारत या फिर प्राचीन परम्पराओं का जन्म स्थान भारत भी यह चाहता है कि आज हर जगह शान्ति ही शान्ति हो तभी यह सुन्दर समाज, सुन्दर विश्व विनाश के घेरे से बच सकता। अतः ये मैं यही कहूंगी कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भागभवेत्॥

★

विश्व शांति के लिये भगवान महावीर के सिद्धान्तों का महत्व

☐ श्री शफीक अहमद

रूपरेखा—

(1) प्रस्तावना

(2) महावीर का जीवन और शिक्षाएं

(3) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां

(4) विश्व शांति के लिये महावीर की शिक्षाओं की उपयोगिता

(5) उपसंहार।

(1) प्रस्तावना:—मनुष्य के सामने दो ही मार्ग है–या तो वह संसार में मिल-जुल कर शांति से रहना सीखे, या फिर वह लड़-भिड़ कर मिटे। पहला रास्ता प्रेम और विश्वास का है, जिसमें सुख है, चैन है और सबकी उन्नती है। दूसरा रास्ता घृणा और वैर का है, जो सर्वनाश की ओर ले जाता है। आज संसार विनाश के कगार पर खड़ा है। आवश्यकता है संसार के देशों के नेताओं में प्रेम, दया और सद्भावना उत्पन्न की जाये। इस दृष्टि से भगवान महावीर की शिक्षाएं बड़ी उपयोगी हैं।

(2) महावीर का जीवन और शिक्षाएं—महावीर स्वामी जैन धर्म के चौबीसवें व अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। महावीर का जन्म 599 ई० पूर्व में कुण्डग्राम नामक स्थान पर हुआ था। इनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। इनके पिता वैशाली गणराज्य के प्रधान थे। इनके (महावीर) के बचपन का नाम वर्द्धमान था। महावीर का बचपन से ही सांसारिक कार्यों में मन नही लगता था। अतः इनका विवाह यशोदा नाम की राजकुमारी से कर दिया गया।[1] तीस वर्ष की आयु में इन्होंने गृह त्याग किया। 12 वर्ष की कठोर तपस्या के बाद इन्हें सत्य ज्ञान की प्राप्ति हुई। 72 वर्ष की आयु में महावीर का निर्वाण हुआ।

महावीर की शिक्षाएं—महावीर की शिक्षाओं के साथ त्रिरत्न व पंच महाव्रत है। त्रिरत्न निम्नांकित है :—

(*i*) सम्यक् ज्ञान (*ii*) सम्यक् दर्शन और (*iii*) सम्यक् चरित्र। सम्यक् ज्ञान से अर्थ सही व सम्पूर्ण ज्ञान से है। सम्यक् दर्शन से तात्पर्य यह है, कि तीर्थंकरों के उपदेशों में विश्वास रखना, और सम्यक् चरित्र से तात्पर्य पंच महाव्रतों के अनुसार जीवन बिताना है। पंच महाव्रत सत्य, अस्तेय (कभी चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियों को वश में रखना), अपरिग्रह (आवश्यकता से अधिक वस्तु इकट्ठी न करना) और अहिंसा (प्राणी मात्र को न सताना)।

नोट: सभा द्वारा 2 मार्च '86 को रखी गई प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त लेख

1. दिगम्बर परम्परा में भगवान महावीर अविवाहित थे।

महावीर का कहना था कि आत्मा अजर-अमर है। जीवन में सुख व दुख का कारण मनुष्य के कर्म हैं। कर्म बन्धन के कारण ही आत्मा को वार-वार जन्म लेना पडता है। अच्छे कम करने से जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा मिल सकता है।

स्यादवाद या अनेकांत वाद —स्याद्वाद जैन दर्शन की अनूठी देन है। यह सच है और शायद यह भी सच है। इसे ही स्याद्-वाद कहते हैं। सत्य के अनेक पहलु होते हैं जो जिस दृष्टिकोण से देखता है उसके लिए वही सत्य है। स्याद्वाद से आशय यह कि हमें दूसरो की भावनाओ का आदर करना चाहिये। और हमें चाहिये कि हम दूसरो की भावनाओ को ठेस न पहुँचायें।

(3) वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिया — आज ससार की राजनैतिक स्थिति वडी विकट है। ससार विनाश के कगार पर खड़ा है। ससार के सभी देशो में हथियार इकट्ठे करने की होड लगी हुई है। समूचा ससार साम्यवादी व पू जीवादी खेमो में बटा हुआ है। अमेरिका और रूस के वीच शीत युद्ध सक्रिय है। आज विकसित राष्ट्रो पास ऐसे घातक परमाणविक हथियार हैं कि उनका प्रयोग करने पर समूची मानव सभ्यता नष्ट हो सकती है। आज एक मामूली सी घटना तृतीय विश्वयुद्ध का कारण वन सकती है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा था कि तृतीय विश्वयुद्ध का तो पता नही लेकिन चतुर्थ विश्व-महायुद्ध पत्थरो और लाठियो से लडा जाएगा। उपनिवेश-वाद और साम्राज्यवाद की भावनाए आज भी प्रवल है। ईराक-ईरान युद्ध, अरव-इजराईल सघर्ष, और दक्षिण अफ्रीका की समस्या विश्व शाति के लिये घातक सिद्ध हो सकते हैं। कुल मिलाकर आज ससार एक बारूद के ढेर के समान वन गया है। जिसमे एक मामूली सी चिंगारी से कभी भी विस्फोट हो सकता है।

(4) विश्व-शाति के लिये भगवान महावीर की शिक्षाओं की उपयोगिता —आज विश्व शाति के लिये भगवान महावीर की शिक्षाए सजीवनी औषधि सिद्ध हो सकती है। भारत की विदेश नीति का प्रमुख सिद्धन्त पचशील क्यों है ? जब कोई व्यक्ति जैन धम मे प्रवेश करता है तो उसे पचशील की दीक्षा लेनी पडती है। यही पचशील के सिद्धान्त हैं। यदि ससार के राजनेता भगवान महावीर की शिक्षाओ को अपनालें तो वडा लाभ हो सकता है। महावीर की शिक्षाए विश्व-राजनीतिज्ञो के हृदय मे प्रेम, दया, सद्भावना, मानवता की सेवा और दूसरे की भावनाओ के लिये आदर भाव उत्पन्न कर सकती है। फिर ससार मे उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद नहीं रहेगा। निशस्त्री-करण की समस्या हल हो जायगी। विकसित राष्ट्र पिछडे हुए देशो का शोषण नही करेंगे और उनके विकास के लिये कार्य करेंगे। मैं तो यहा तक कह सकता हू कि सयुक्त राष्ट्र सघ भी सफल हो सकता है, यदि उसके सदस्य महावीर की शिक्षाओ का अनुसरण करें।

(5) उपसहार —निष्कर्ष रूप मैं भगवान महावीर की शिक्षाए विश्व शाति के लिये रामवाण औषधि सिद्ध हो सकती हैं। इसके लिये महावीर की शिक्षाओ का व्यापक पैमाने पर प्रसार किया जाए और इनके आचरण के लिये राजनेताओ को प्रेरित किया जाये।

श्री शफीक अहमद कक्षा 8 ए
मुस्लिम उच्च माध्यमिक विद्यालय
जयपुर

पंचम खण्ड

आंग्ल भाषा (English Section)

शुभ कामनाओं सहित :



रामसुख चुन्नीलाल

A/5, अनाज मण्डी चादपोल, जयपुर

फोन 74931

EGG GOOD SOURCE OF ENERGY–A MYTH

Dr. D. C. Jain
M. D., D M.
Head of the Dept. Neurology
Safdarganj Hospital, New Delhi-110029

General belief is that 'EGGS' are more nutritious, cheaper and easily digestable Production of eggs at National Level is considered cheaper. Let us examine these issues on the basis of facts and figures and conclude ourselves whether these facts are correct or not.

1. NUTRITIVE VALUE

As per Health Bulletin No. 23 issued by Central Food Technological Research Institute, Mysore (Government of India), 100 grams eggs provide 160 calories, whereas 100 grams of pulses (Gram, Lentil, Peas, etc.), 330 to 370 calories, oilseeds 450 to 550 (Groundnut, Til, Soyabean etc) and 900 calories in Butter, Ghee, as given in Table 1 below. In ancient India, great stress was laid on the intake of Ghee, Butter, etc., which have the highest calorific value and are good sources of food energy. It is also confirmed by the recent medical researches :

Table No. 1

COMPARATIVE STUDY OF FOOD VALUE (Per 100 grams)

Food Item	Energy	Approximate Ratios
Eggs	160	1
Pulses	330 to 370	2
Groundnut, etc.	450 to 550	3
Ghee	900	

2. ECONOMIC ASPECT

It is generally believed that 'EGGS' are cheaper and good source of energy, especially for the people living in the developing countries like India. The facts are, however, quite different In Delhi, the average cost of 100 grams eggs, (2 eggs) in Jan., 1986 is Rs. 1.40, where-as pulses are available in Super Bazar Rs. 0.70 P. per 100 grams range Thus the pulses are available at half the price and yield twice the energy than that of eggs, as illustrated in Table No. 2 below :

Table No 2

S No	Food Items	Price per 100 grams (Rupees)	Energy per 100 grams (Calories)	Approximate Ratio (cost wise)
1	Eggs	1 40	160	1
2	Pulses	0 70	340	4
3	Groundnut	1 00	450	3
4	Oils & Ghee	2 00	900	5

The above table proves that the energy obtained from eggs is the costliest

3 HARMFUL EFFECTS OF EGGS ON HEALTH

It is generally propagated that 'EGGS' are more nutritive and very beneficial for the health However the reality is that these are actually injurious for health in many ways Chemical analysis has proved that the egg yolk contains more cholesterol a waxy alcohol which deposits in the liver and the blood vessels producing fatty change in liver and hardening of arteries Those, who take eggs since childhood start feeling adverse reactions in their young age and become more prone to heart, brain, liver and kidney diseases

Eggs sometimes create 'ANIMAL HYPER SENSITIVITY reactions Many diseases like rheumatoid arthritis and gout etc, get aggravated by eating of eggs In addition eggs are deficient in vitamins especially 'B Complex and Vitamin C Carbohydrates are also not available therein As a result of this human body suffers from many deficiencies Deficiency of Carbo hydrates affects the functioning of brain, calcium contents of eggs are also negligible thereby it can not be recommended as ideal food supplement to children

4 EGGS—GOOD SOURCE OF PROTEIN—A WRONG CONCEPT

100 grams eggs contain 13 3 percent proteins whereas pulses have 24% Groundnut 31 5% Soyabeen 43 2% & powdered milk 38% it is clear that the protein contents of eggs are very low and costly as compared to other items mentioned above

5 DIGESTIBILITY OF EGGS

Eggs are not easily digestible Both the bile and pancreatic juice are in different to egg white Nearly 30 to 50% of the egg white passes through the digestive tract undigested

6 EGGS DEFICIENT IN ESSENTIAL NUTRIENTS

Eggs are deficient in iron calcium and magnesium, which are very essential for human body

7 ROTTEN EGGS PROBLEM TO IDENTIFY

It is a problem to distinguish spoiled eggs because one can not see the rotten egg and if eaten can lead to death

8. VEGETARIAN EGGS : A MISNOMFR

It is propogated by vested interests that eggs are vegetarian. It is not scientific because eggs cannot be obtained from plants. Their only source is from animals, birds. In fact, the so called vegetarian eggs can be named **immature, unfertilised, still-born** or **aborted** eggs.

9. 'Unfertilisd Eggs' cannot be accepted as vegetarian on the scientific basis, as these are, on maturity, capable of getting fertilised.

10. EGGS HAVE LIFE : A SCIENTIFIC FACT :

Research has proved that electrical activity can be recorded from the surface of unfertilised eggs. Therefore, unfertilised eggs cannot be considered as lifeless. Famous secientist, late Shri Jagdish Chandra Bose demonstrated signs of life in plants on the basis of active flow of water. Eggs of all kinds have life, as evidenced by **recording of electrical activity on polygraph.**

11. ECONOMIC LOSS IN TRANSPORTATION OF EGGS :

According to an official estimate, nearly 10% eggs are broken in transit, which is a serious matter from economic point of view. Such loss is negligible in transportation of fruits and pulses which are better food substances than eggs.

12. PROMOTION TO EATING OF EGGS—A THREAT TO ECOLOGY :

Habit of taking eggs is also responsible for ecological disturbances. During the recent past, plants have been destroyed extensively, causing serious ecological disturbances in the form of floods, spreading of deserts etc. in the country. If timely attention is not given to this problem, we may have to face many serious hazards on this account. An ecology expert has opined that within a few years, there may not be a single bird in Delhi which is likely to pose a serious ecological threat.

13. CONCLUSION

1. Eggs are less nutritive than pulses, groundnut, soyabean.
2. Eggs contain less proteins compared to plant proteins resources.
3. Eggs are costlier than pulses, milk, cereals, groundnut, etc.
4. Eggs are responsible for many serious diseases.
5. Eggs cause heart trouble, paralysis, kidney—ailment, etc.
6. Eggs are not easily digestible
7. Eggs—"Vegetarian Eggs" is a misnomer.
8. Eggs, if rotten, can be injurious to health.
9. Eggs do not come in the category of vegetarian diet.
10. Eggs eating is a serious threat to ecology.

The Living Light ·

Lord Mahaveera

☐ Raj Kishore Jain
Meerut

Lord Mahaveera !
Uneffecting
Uneffected
Frictionless flow
of knowledge function,
Omnipotent
Omniscient
Concentrated Mass of
full vitality & joy.



The Light !
transcending
Fusion - Fission
Permutations
Combinations
Ups, Downs
Waves, Quantums

Living Light !
manifests
clear calm,
and full
reflects
Past, present, future
Phases of
every existence
fixed - ordered
powerful functions
happening
instantaneously
by themselves.



Darsana – An Essential Precondition of Knowledge

—Dr. S. C. Jain
Research Officer, Bharatiya Jnan Pith, New Delhi

The term *'darsana'* has a wide connotation in Jainism. In common parlance it implies only a form of perception or knowledge, specially with the help of the sense of eye, though extended to such comprehensions as are obtained through the agency of the self or the soul directly. Jainism also makes use of this term to represent the phenomenon of faith distinguished in its two forms—right and wrong. We also come across a justification for such a usage. (1) These two meanings of *darsana* are not relevant to the present discussion. Extensive treatments of *darsana* as a concept parallel to that of knowledge are abundantly available in Jaina philosophy. This very *darsana* is the topic for consideration in this essay. I may be excused for not giving the English translation of the term *darsana* in the essay, the reasons for which may be possibly appreciated as we proceed with the discussion.

Darsana appears as a sub-category of *'upayoga'* which is held to be the differentia of the *'Jiva'* or the soul and which is also understood as the functional side of conciousness. (2) This consciousness has also been divided into the same sub-categories distinguished from the forms only in nomenclature by suffixing *cetana* in place of *upayoga* to them. Thus *darsana* and jnana (knowledge) come out to be two distinct powers of the substance of soul, both on the structural as well as the functional side. Further, for the contamination of these two powers two distinct categories of karmas in the from of *darsana*-obscuring and knowledge-obscuring ones, both of the destructive (*ghati*) type, are conceived in the karma philosophy of Jainism. When these obscuring karmas are completely eradicated by a soul, it is said to be effulgent with infinite *darsana*, infinite knowledge, infinite bliss and infinite power, collectively known as the *ananta catustaya* (infinite tetrad). It may also be noted that the faith deluding karma vitiates knowledge but it has no effect on *darsana*, and its right and wrong types are not distinguished as we have in case of knowledge. Thus *darsana* is conceived to be an intrinsic attribute of the soul parallel to knowledge, always accompanying it in all its form of existence whether mundane or liberated. It means that the level at which knowledge is distinguished as an attribute of the soul, *darsana* must hold an equal status with it, both of them being positive attributes of the conscious substance.

This *darsana* is again distinguished among its forms of manifestation as *caksu* (ocular), *acaksu* (non-ocular) *avadhi* (clairvoyant) and *kevala* (perfect) (5) The first two members of this division clearly evince that the use of the senses is recognised in the generation of the modes of *darsana* though the last two divisions depend for their occurance on the purity and freedom of the soul from the centamination caused by the karmas This division may be fairly taken as an evidence in favour of the conception of *darsana* as a faculty in the soul with a separate and distinct chain of modes like that of knowledge Moreover for a detailed study of the principle of soul two distinct *marganas* (soul-quests) have been devised yieding differing descriptions and details about the soul thus leading to the distinction between *darsana* and knowledge In view of these facts one should not mix and confuse the two entities, though both from a point of view are covered under the genus *cetana* or consciousness

About *darsana* the most current view is that it is a prehension with no details while knowledge is a prehension with details (6) These two prehensions take place in succession among the mundane souls i e, knowledge is always preceded by *darsana* but they occur simultaneously in the omniscient souls *(kevalis)* (7) Some objections can possibly be raised against this position *Darsana* and knowledge being two separate faculties of the soul, their simultaneous function in the omniscient souls is but a natural consequence But coming to the case of mundane souls the successive occurence of the modes of the two faculties must entail a breach of flow of modes of both the faculties by way of mutual interruption-which is a position not tenable under the substance theory of Jainism Moreover, there is no absolute universal or particular in Jainism which can be said to be the subject matter of *darsana* universal and particular both are relative terms implying that an entity held to be a universal now may become a particular by effecting a change of reference system If so we fail to get a consistent meaning of these terms to suit the present context Also it leads to the conclusion that the universal is not prehended by knowledge, and the particular by *darsana* On the contrary it has been maintained that the subject matter of *pramana* which is equivalent to valid knowledge is the object with universal and particular as the all of the object (8) Accordingly knowledge should prehend the universal as well as the particular in the object leaving nothing for *darsana* to prehend

It was perhaps due to this difficulty in the theory that the meaning of the term *samanya* or universal was modified to imply the soul Accordingly it was propounded that the soul prehends itself with the help of its *darsana* -attribute and other objects with knowledge attribute By this an attempt was made to relieve the concept of *darsana* of sum of its obsurities and confusions, but unfortunately the new position is seen to be fraught with some other

serious difficulties. If the function of knowledge is confined to objects other than the soul,then knowledge is not able to prehend itself or the soul. So also, if *darsana* prehends the soul, it performs the function of knowing with respect to soul,and comes out only to be a kind of knowledge with a change of subject-matter, thus rendering the formulation of *darsana* as a separate faculty of the soul futile. Again with regards to other objects *darsana* is rendered defunct with no proper reasons to account for this limitation.

Finding no explanation to these inconsistencies in the theory the trend of thinking followed a different line by eliminating the difference between darsana and knowledge According to this view darsana is only an elementary stage of knowledge, a vague knowledge wherein the details are not at all grasped or they are so hazy as to admit of no treatment whatsoever. The latest trend in this context tends to holding darsana as equivalent to perception which is also distinguished from knowledge. (9 B) In psychology sensation is a more elementary phenomenon than perception, and precedes perception. It is a stage of cognition where not even slight help is provided to it by the apperecption masses of the perceiver. In face of this support from psychology one may hesitate to equate darsana with perception. Akalanka very carefully safeguards the position of darsana as an intervening stage between the contact of objects with the perceiver and its hazy cognition called the vyanjanavagraha (10) It is the occurance of darsana which is said to make the process of cognition possible, and it is due to the functioning of a separate faculty called darsana. However, the view of non-distinction between darsana and knowledge is not in consonance with the philosophic tradition of Jainism Darsana and knowledge both are conscious attributes of the soul. If they are distinct from each other, they will yield two conscious modes simultaneously which the propounder of the view that two conscious activities can not take place simultaneously finds inconsistent. (11) Here we may resort to the theory of mind in psychology which prescribes triple character-conative, cognitive and affective to every psychosis.Mc Dugall rightly observes, "........it is generally admitted that all mental activity has three aspects, cognitive, contative and affective and when we apply one of these three adjectives to any phase of mental life, we mean merely that the aspect named is most predominent of the three at the moment."(12) Our conclusion is that the entities accepted as attributes of the soul should function simultaneously with no smell of inconsistency.

The theories regarding darsana and knowledge as discussed above differ from each other, though attempts made to reconcile them by stretching the connotation of the terms involved in their exposition deserve some consideration Also they can be appreciated as attempts at exploring the

identity of darsana in Jain philosophy It may be noted that all these attempts lay emphasis on the objects of darsana which is a transitive faculty of the soul like knowledge Just as a consideration of knowledge as it is in itself is understandable so also in case of darsana a similar consideration can be effected to disclose the identity of darsana as it is in itself i e as a different faculty of the soul with a distinct chain of its modes It is a different thing that when we try to give it some description it is seen to take one form or another But we are ever pressed by a need as to what this faculty of darsana should be in itself

It has been observed 'Again from the side of the mind the conscious ness of a *surface is but the first stage in the* consciousness of a *material object* Now this consciouness of the object is not acquaintance (as the consciousness of the red something is) nor is it any other kind of knowing It is but provisional acceptance partly determinate and partly indeterminate and it is subject to correction throughout (13) Again we see a slight tinge of perception in the above description which the Jaina theory will not be able to digest Vadideva Suri is of opinion that darsana marks a stage prior to that of avagraha (indeterminate sensuous knowledge) It is like the stirring of consciousness on the contact between that soul and the object (14) 'Call it the consciousness of the surface the sensation or the indeterminate cognition it must *not belong to the series* of *knowledge* (15) *It is a* sort *of readiness* or inclination on the part of the soul to comprehend an object, and is not identified *with the comprehension of the object (16) We again* notice that *the prehension* in the form of an effort made by the soul as an auxiliary cause for the generation of the successive *modes of knowledge* is what we *mean* by darsana (17) In actual process neither the flow of darsana attribute nor that of knowledge-attribute need be broken and *interrupt mutually* Every unitary mode of knowledge is supported by a corresponding mode of darsana, which should necessarily be there to sustain the flow and process of knowledge In case of the omniscient soul, there being no obstruction to the natural function of darsana and knowledge their simultaneous occurence can be well understood

References

1 Pujyapada Devanandi *Sarvarthasiddhi Shaka era* 1839 p 4

2 Umasvati Tattvarthsutra 2 8

3 Ibid 8 4

4 Kundakunda *Pancastikayasara, verse* 41

5. Nemichandra : Dravyasangraha, verse 4

6. Pujyapada Devanandi : Sarvarthasiddhi, Shaka era 1830, P. 89

7, Nemichandra : Dravyasangraha, verse 44

8. Manikyanandi : Pariksamukhasutra, 4.1

9. Virasena, Dhavala, Satprarupana, Part-I, p. XXXi

9 (B) Pancastikaya : A philosophicai Introduction Vo. I, p. 383

10. Akalanka : Rajvartika Vol. I, P. 60

11. Visesavasyaka bhasya, verse 3096.

12. Mc Dougall : An Outline of Psychology, p. 266

13. H. H. Price : Perception, p. 106

14· S. C. Jain : Structure and Functions of soul in Jainism, P. 92

15. Ibid p. 93

16. Ibid, p. 94

17. Brahmadeva : Dravyasangrahvrtti, p. 164.



Why food should not be taken at night ?

□ Birendr Bir Baj
- Jaipur-3

Almost 2000 years ago Bhagwant Bhoot Bali, in the oldest written Agam sat khandagam, under the topic "वेयरा पच्चय विहारा" which narrates the causes of the pain of all the eight Karmas, besides all other reasons, has unambiguously laid down

"रादि भोयरा पच्चय"

Taking food at night and having desire pertaining to that causes ज्ञानावरणीय वेदना (painful knowledge obstruction) Shri Vir Senacharya explains what is eaten is food The pain of knowledge obstruction arises on account of taking meals at night Since the Sutra is only देशामशक (not exhaustive) it has to be understood in all its related aspects Honey, meat, five *udamber* - fruits, 'forbidden eatables, eating of flowers, alcoholic drinks and taking untimely food should also be taken as included in this reason for causing obstruction of knowledge (satkhandagam vol 12-4, 2, 8, 7 P 282-283)

Sun is the source of energy Vitamin D and a remedy for a number of diseases The eatables especially the most of cooked ones generally lose taste if they are taken after night in the next morning Many of the birds and quadrupeds also do not take food at night When we can afford to take food while the sun shines, it is not understood what is the fun in taking meals only at night In the day time when the sun shines many germs do not exist or are inactive and so we are saved from the harm that might be caused while taking food at night

Ailacharya Shri Vidyanandji Maharaj says that in sun-light the fire of our *Nabhi Kamal* is glowing which faints after sun set, because the *Nabhi-Kamal* then goes to rest If the oven is not hot it would be ineffective, even if we put something on it Similarly whatever is supplied to the *Nabhi Kamal* at night that remains undigested because of its inert digestive function There is also fear of the *Nabhi-Kamal* growing ineffective because of its lesser energy Thus if the power of *Nabhi Kamal* gets once shattered it goes on deteriorating The faculties weakened because of meals at night many diseases find easy way ageing starts, organs begin failing Thus taking food at night not only causes ill-health but also makes us irascible (तामसिक), and dull (Tirthankar p 24 May 1985)

Advertisement

हम सभी विज्ञापनदाताओं के आभारी हैं जिन्होंने इस स्मारिका के प्रकाशन में विज्ञापन प्रदान कर हमारा मनोबल बढ़ाया-

विज्ञापन

भगवान महावीर का संदेश

- जीओ और जीने दो । यही उत्तम धर्म है ।
- वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है । जो जिस पदार्थ का स्वभाव है वह ही उसका धर्म है ।
- धर्म कोई बाह्य पदार्थ नही है । आत्मा की निर्मल परिणति का हो नाम धर्म हे ।
- धर्म सर्वश्रेप्ठ मगल है परन्तु कौनसा धर्म ? अहिसा, सयम और तप रूप धर्म ही धर्म है । जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म मे अनवरत सलग्न रहता है उसे देवता भी नमन करते है ।
- धर्म न कही गाव मे होता है और न कही जगल मे ही किन्तु वह अन्तर्रात्मा मे होता है ।
- समस्त धर्म स्थानो मे सर्वश्रेष्ठ स्थान अहिसा है । अहिंसा परमो धर्म । छोटे-बडे समस्त जीवो के साथ यहाँ तक कि स्वय के साथ भी सयम पूर्वक व्यवहार करने की प्रवृत्ति मे ही तेजस्विनी व वास्तविक अहिसा के दर्शन होते है ।
- धर्म के बाह्य दस लक्षण है उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एव ब्रह्मचर्य ।
- दया के समान कोई धर्म नही है, सत्य के समान कोई कीर्ति नही है, शील के समान कोई शृ गार नही है, आहार एव शास्त्र दान, ज्ञान–प्रचार के समान कोई त्याग नही है ।

महावीर जयन्ती के पुनीत पर हमारी

हार्दिक शुभकामनायें



मै. गणेशलाल जयकुमार

8-बी अमर तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता

धन्नालाल काला





HARI OIL MILLS LIMITED

64, INDUSTRIAL AREA, JHOTWARA
JAIPUR-302 012 (Raj.)

Gram : MUSTARDOIL
Phones : Offi. : 842514, 842287
Resi. : 6 7 1 1 4

MANUFACTURERS OF :

PURE AGMARK EDIBLE OILS

श्री महावीर स्वामी के कुछ सिध्दान्त जिनसे आत्म शान्ति मिलती है :



१. सभी आतमाएं बराबर हैं, कोई छोटा बड़ा नही है ।

२. भगवान कोई अलग नहीं होते । जो जीव पुरुषार्थ करे, वही भगवान बन सकता है ।

३. भगवान जगत की किसी भी वस्तु का कुछ कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है, मात्र जानता ही है ।

४. हमारी आत्मा का स्वभाव भी जानना-देखना है, कषाय आदि करना नहीं ।

५. कभी किसी का दिल दुखाने का भाव मत करो ।

६. झूंठ बोलना और झूंठ बोलने का भाव करना पाप है ।

७. चोरी करना और चोरी करने का भाव करना बुरा काम है ।

८. संयम से रहो, क्रोध से दूर रहो और अभिमानी मत बनो ।

९. छल कपट करना और भावों में कूटिलता रखना बहुत बुरी बात है ।

१०. लोभी व्यक्ति सदा दुःखी रहता है ।

११. हम अपनी ही गलती से दुःखी हैं और अपनी भूल सुधारकर सुखी हो सकते हैं ।

शुभ कामनाओं सहित :



स्थापित 1952 दूरभाष । 75235

राजस्थान सरकार द्वारा सहायता एव मान्यता प्राप्त

राज श्री विद्यालय

एफ-38, शास्त्री नगर, जयपुर (राजस्थान)

राज श्री विद्यालय, शास्त्री नगर, जयपुर से देश के अनुमोदित आवासीय माध्यमिक स्कूलो मे केन्द्रीय सरकार के छात्रवृत्ति के अन्तर्गत अखिल भारतीय परीक्षा 1985-86 मे राजस्थान मे कुल 13 छात्र चयनित हुये जिनमे से 7 छात्र इस विद्यालय के चयनित हुये ।

चयनित छात्र शैलेन्द्र चतुर्वेदी, राजेश सोनी, अरविन्द थानवी, राहुल, लोकेश परनामी, मनीष गुप्ता एव गजेन्द्र है ।

इस छात्रवृत्ति के दौरान 12 वी तक की शिक्षा देश के प्रमुख पब्लिक स्कूलो मे दिलाई जावेगी, जिसका सारा व्यय नियमानुसार भारत सरकार वहन करती है। गत चार वर्षों से इस सस्था का परिणाम राजस्थान मे सर्वश्रेष्ठ रहता है ।

बाबूलाल जैन
मन्त्री
राज श्री विद्यालय, जयपुर

अल्प बचत एक राष्ट्रीय कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम की प्रगति से राज्य एव राष्ट्र के विकास के लिए धन जुटाने हेतु एक सुदृढ आर्थिक स्त्रोत की स्थापना होती है। भारत सरकार ने अल्प बचत के अन्तर्गत विभिन्न आयवर्ग वाले लोगों के लिए कई योजनाए चालू कर रखी है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आय के अनुसार कुछ ना कुछ धनराशि इन योजनाओ मे अवश्य जमा करानी चाहिये।

आप भी निम्नलिखित योजनाओ मे से किसी भी योजना मे अपनी सुविधानुसार धन जमा करा सकते हैं। अल्प बचत मे अपने योगदान से न केवल आप स्वय अत्यधिक लाभान्वित होंगे, अपितु राज्य एव राष्ट्र के विकास से भी सक्रिय रूप से भागीदार बनेंगे।

1 डाकघर बचत बैंक ।—
5 5% वार्षिक कर मुक्त ब्याज के अतिरिक्त छ माई इनामी योजना भी आकर्षक इनाम जीतिये।

2 5 वर्षीय राष्ट्रीय बचत पत्र —
12% दर से चक्रवृद्धि ब्याज। बचत पत्रो मे लगाया गया धन छ वर्षो के बाद दुगुना होने के साथ-साथ आयकर मे भी दोहरा लाभ।

3 5 वर्षीय डाकघर आवर्ती खाता —
11 5% वार्षिक दर से चक्रवृद्धि ब्याज मासिक बचत का सरल तरीका और मुफ्त जीवन बीमा का लाभ।

4 डाकघर साविधि जमा खाते —
9 5% से लेकर 11 5% वार्षिक ब्याज

5 दस वर्षीय सामाजिक सुरक्षा पत्र —
11 3% वार्षिक चक्रवृद्धि ब्याज 10 वर्षों मे निवेशित राशि तिगनी होने के साथ-साथ सामाजिक सुरक्षा का अतिरिक्त लाभ।

नव वर्ष के शुभारम्भ मे ही उपरोक्त किसी भी योजना मे अपनी बचत राशि जमा करा कर अपने भविष्य तथा अपने परिवार की सुरक्षा के प्रति आश्वत हो जाईये।

नव वर्ष की हार्दिक शुभकामनाओं सहित

निदेशालय, अल्प बचत एव राज्य लॉटरीज विभाग, जयपुर द्वारा प्रसारित

भगवान महावीर की पावन जयन्ती
के पुनीत पर्व पर हार्दिक

शु भ का म ना ए

फतेचन्द दासुराम जैन

कलर एण्ड केमिकल मर्चेन्ट्स
(नवाब साहब की हवेली)
त्रिपोलिया बाजार, जयपुर–302 002

दूरभाष { 46261 कार्यालय
44748 निवास

एजेन्ट वेस्टर्न फ्लोराइड एण्ड केमिकल्स प्रा० लि०, बम्बई

Fateh Chand Dasu Ram Jain

Tripolia Bazar, JAIPUR-302 002

शुभ कामनाओं सहित



लक्ष्मी नमकीन भण्डार

दडा, घी वालो का रास्ता, जयपुर

हमारे यहां सभी प्रकार की शुद्ध एवं ताजा नमकीन मिलती है एव
गर्म जलेबी, बंगाली मिठाई, घेवर आदि मिष्ठान भी मिलते है।

जयपुर मे लौंग की सेव के एक मात्र निर्माता

नोट विवाह शादी पार्टियो के लिए नमकीन आर्डर देने पर तैयार की जाती है।

शुभ कामनाओं सहित :



राजस्थान के सी० एण्ड एफ० एजेन्ट

मै. कासलीवाल एन्टरप्राइजेज

(प्रोप्राईटर : स्वदेश जैन)

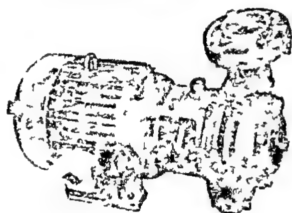
98, झालानियों का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर-302 001

फोन : 66749

विशिष्ट तरीके से बना हुआ स्वादिष्ट उत्तम जायकेदार

अशोक पान मसाला ही प्रयोग करें

सभी प्रकार के स्टार्टर्स, स्विच, केबल व अन्य विद्युत का सामान व सभी प्रकार की वेल्डिंग इलेक्ट्रोड व अन्य उपकरण तैयार स्टाक से प्राप्त करें।



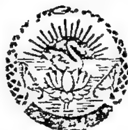
राजस्थान सरकार
द्वारा मान्यता प्राप्त
ISI मार्क

राजस्थान के एक मात्र वितरक

दी रायल कम्पनी

अशोका होटल बिल्डिंग, स्टेशन रोड, जयपुर-302 006
फोन 64292, घर 68208 ग्राम SOGANICO

With best compliments from



- **Rajendra Textiles**
- **Godika Carpets**

Manufacturers & Exporters of
HANDMADE WOOLLEN PILE CARPETS &
ORNAMENTAL URRIES

607, Bordi Ka Rasta, Kishanpole Bazar
JAIPUR-302 003 Phone 68817

शुभ कामनाओं सहित



जैन आइरन एण्ड फिटिंग स्टोर

ITC–TATA तथा BST पाइपो के अधिकृत विक्रेता

चार मीनार A C शीट के स्टाकिस्ट

केपस्टन मोटर्स के राजस्थान के लिए सोल एजेन्ट

चौड़ा रास्ता जयपुर

फोन आफिस 72440, 62919 ◦ निवास 76543, 73717

नयापुरा कोटा

फोन 5220 ☐ ग्राम वधमान

हार्दिक शुभ कामनाओं सहित



भौरीलाल कैलाशचन्द चौधरी

(चान्दी के जेवरात के व्यापारी)

किशनपोल बाजार, चौपड के पास

जयपुर–302 003

फोन { दुकान 76077, 75491; घर 63023
